अनेकान्त

सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख़्तार

विषयसूची

१ समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक २२३
२ आ० भाषाओं की व्यु० जैन० महत्व—[बा० ज्योतिप्रसाद एम. ए. २२५
३ ग्रंथ और ग्रंथकार (मूलाचार कार्तिकेयानुप्रेक्षा)—[सम्पादक २२७
४ वीतरागस्तोत्र—[सम्पादक … … २३३
५ सर राधाकृष्णनके विचार— … … २३४
६ साम्प्रदायिक दंगे और अहिंसा—[बा० राजकुमार जैन २३५
७ भ० महावीर और उनका सन्देश—[श्रीकस्तूरसाव जैन, बी० ए० २३७
८ वनस्पति घी—[महात्मा गांधी … … २४६
९ ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों ?—[पं० दरबारीलाल २४७
१० कायरता घोरपाप है—[श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय २५७
११ बंगालके कुछ प्राचीन जैनस्थल—[बा० ज्योतिप्रसाद एम० ए० २६१
१२ चारित्र्यका आधार—[श्री काका कालेलकर … २६३
१३ धर्म और नारी—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए० २६५
१४ अपभ्रंश भाषाका जैन कथा-साहित्य—[पं० परमानन्द शास्त्री २७३
१५ प्रा. जैनमं०के ध्वं०से निर्मित मस्जिदें—[बा० ज्योतिप्रसाद एम०ए० २७९
१६ रत्न० और आ० का कए कर्तृत्व प्रमाण सिद्ध है—[पं० दरबारीलाल २८२
१७ एक प्राचीन ताम्र-शासन—[सम्पादक … २८६
१८ भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना—[सम्पादक … २८७
१९ विविध-विषय—[जे० पी०] … … २८९
२० साहित्यपरिचय और समालोचन—[ज्योतिप्रसाद जैन २९५

नवंबर
दिसंबर
सन् १९४६

वर्ष ८
किरण ९-७

आवश्यक सूचना

गत किरणमें अनेकान्तके प्रकाशनमें होनेवाली विलम्ब-पर अपना भारी खेद व्यक्त करते और उसके कारण एवं तज्जन्य अपनी मजबूरीको बतलाते हुए यह आशाकी गई थी कि अगली किरणोंका मैटर शीघ्र ही प्रेसमें जाकर वे प्रेसके आश्वासनानुसार जल्दी छप सकेंगी और कुछ समयके भीतर ही विलम्बकी पूर्ति हो जायगी। परन्तु जिस ह्वाइट प्रिंटिंग कागजपर अगली किरणोंके छापनेकी सूचनाकी गई थी उसका परमिट तो मिलगया था किन्तु कागज नहीं मिला था। कागजके लिये कितनी ही बार सहारनपुरके चक्कर लगाने पड़े और प्रत्येक होलसेलर (wholeseller) को उसके देनेके लिये प्रेरणा की गई परन्तु सबने टकासा जवाब देदिया और कह दिया कि हमारे पास आपके मतलब का कागज नहीं है। मालूम यह हुआ कि सहारनपुर जिलेका कोटा तो कम है और परमिट अधिकके कटे हुए हैं, ऐसी हालतमें माँगके अधिक बढ़जानेसे अक्सर व्यापारी लोग (होलसेलर्स) आते ही मालको प्रायः इधर उधर कर देते हैं—दुकानोंपर रहने नहीं देते—और फिर ड्योढे दुगुने दामोंपर ब्लैकमार्केट द्वारा अपने खास व्यक्तियोंकी मार्फत बेचते हैं। यह देखकर डिस्ट्रीब्यूटरों (distributors) के पाससे कागजके मिलनेकी व्यवस्थाके लिये परमिटमें सुधार करदेनेकी प्रार्थना कीगई परन्तु पेपर कंट्रोलर साहबने उसे मंजूर नहीं किया—अर्थात् अपनी हुंडी तो खड़ी रक्खी परन्तु उसके भुगतानकी कोई सूरत नहीं निकाली !! लाचार देहलीमें एक पेपर एडवाइजरी बोर्डके मेम्बरके सामने अपना रोना रोया गया और इस सरकारी अव्यवस्थाकी ओर उनका ध्यान दिलाया गया उन्होंने कं. सा. को कुछ लिखा और तब कंट्रोलर साहबने परमिट वापिस मँगाकर उसे होलसेलरों और डिस्ट्रीब्यूटरों दोनोंके नामपर कर दिया साथ ही सहारनपुरका कुछ कोटा भी बढ़ गया। ऐसा होनेपर भी कितने ही अर्सेतक मिलोंसे डिस्ट्रीब्यूटरोंके पास २०×३० साइजका कागज नहीं आया, जो अपने पत्रमें लगता है, और कुछ आया भी तो वह अपनेको नहीं मिलसका आखिर ८ दिसम्बरसे कागज मिलना शुरू हुआ, जो मिलते ही प्रेसको पहुँचा दिया गया जिसके पास मैटर पहलेसे ही छपने को गया हुआ था। प्रेसको अपना कुछ टाइप बदलवाना था, इससे उसे छपाई प्रारम्भ करनेमें देर लगगई और इस तरह देरमें और देर होगई !

यह सब देखकर विलम्बकी शीघ्र पूर्तिकी कोई आशा नहीं रही, और इसलिये किरणोंके सिलसिलेको ही प्रधानतः अपनाया गया है। अर्थात् इस संयुक्त किरणको जून-जुलाई की न रखकर नवम्बर-दिसम्बर की रक्खा गया है और किरणका नंबर पूर्व सिलसिलेके अनुसार ही ६-७ दिया गया है। किरणें पूरी १२ निकाली जाएँगी—भले ही कुछ किरणें संयुक्त निकालनी पड़ें, परन्तु पृष्ठ संख्या जितनी निर्धारित है वह पूरी की जावेगी और इससे पाठकोंको कोई अलाभ नहीं रहेगा। हम चाहते हैं यह वर्ष आषाढतक पूरा कर दिया जाय और वीरशासनजयन्तीके अवसरपर श्रावणसे नया वर्ष शुरू किया जाय और उसके प्रारंभमें ही एक खास विशेषाङ्क निकाला जाय।

सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका मूल्य ॥)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ८ किरण ६-७ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जि० सहारनपुर
मार्गशीर्ष-पौष शुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४७३, विक्रम सं० २००३ | नवम्बर-दिसम्बर १९४६

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्ख-पुष्पम् ।
अवृत्तिमत्वात्समवाय-वृत्तेः संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥ ७ ॥

'(हे वीरभगवन्!) **आपका अर्थतत्त्व**—आपके द्वारा मान्य-प्रतिपादित अथवा आपके शासनमें वर्णित जीवादि-वस्तुतत्त्व—**अभेद-भेदात्मक है**—परस्परतन्त्रता (अपेक्षा, दृष्टिविशेष) को लिये हुए अभेद और भेद दोनों रूप है अर्थात् कथञ्चित् द्रव्य-पर्यायरूप, कथञ्चित् सामान्य-विशेषरूप, कथञ्चित् एकाऽनेकरूप और कथञ्चित् नित्याऽनित्य-रूप है; न सर्वथा अभेदरूप (द्रव्य, सामान्य, एक अथवा नित्यरूप) है, न सर्वथा भेदरूप (पर्याय, विशेष, अनेक अथवा अनित्यरूप) है और न सर्वथा उभयरूप (परस्परनिरपेक्ष द्रव्य-पर्यायमात्र, सामान्य-विशेषमात्र, एक-अनेकमात्र अथवा नित्य-अनित्यमात्र) है। **अभेदात्मकतत्त्व-द्रव्यादिक और भेदात्मकतत्त्व-पर्यायादिक दोनोंको स्वतन्त्र**-पारस्परिक तन्त्रता से रहित **सर्वथा निरपेक्ष—स्वीकार करनेपर प्रत्येक**—द्रव्य, पर्याय तथा उभय; सामान्य, विशेष तथा उभय; एक, अनेक तथा उभय और नित्य, अनित्य तथा उभय—**आकाशके पुष्प-समान (अवस्तु) हो जाता है**—प्रतीयमान (प्रतीतिका विषय) न हो सकनेसे किसीका भी तब अस्तित्व नहीं बनता।'

(इसपर यदि यह कहा जाय कि स्वतंत्र एक-द्रव्य प्रत्यक्षादिरूपसे उपलभ्यमान न होनेके कारण क्षणिकपर्याय की तरह आकाश-कुसुमके समान अवस्तु है सो तो ठीक; परन्तु उभय तो द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायरूप सत् तत्त्व है और प्रागभाव-प्रध्वंसाऽभाव-अन्योन्याऽभाव-अत्यन्ताऽभावरूप असत् तत्त्व है, वह उसके स्वतंत्र रहते हुए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी कैसे आकाशके पुष्प समान अवस्तु है ? वह तो द्रव्यादि-ज्ञानविशेषका विषय सर्वजनोंमें सुप्रसिद्ध है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणद्रव्य(अवयव)-कार्यद्रव्य (अवयवी)की, गुण-गुणीकी, कर्म-कर्मवान्की समवाय-समवायवान्की एक दूसरेसे स्वतंत्र पदार्थके रूपमें एक बार भी प्रतीति नहीं होती। वस्तुतत्त्व इससे विलक्षण—जात्यन्तर अथवा विजातीय-है और वह सदा सबोंको अवयव-अवयवीरूप, गुण-गुणीरूप, कर्म-कर्मवान्रूप तथा सामान्य-विशेषरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे निर्बाध प्रतिभासित होता है।)

'(यदि वैशेषिक-मतानुसार पदार्थोंको—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहोंको—सर्वथा स्वतंत्र मानकर यह कहा जाय कि समवाय-वृत्तिसे शेष सब पदार्थ वृत्तिमान् हैं अर्थात् समवाय नामके स्वतंत्र पदार्थ-द्वारा वे सब परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त हैं, तो) **समवायवृत्तिके अवृत्तिमती होनेसे**—समवाय नामके स्वतंत्र पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण* उसे स्वयं असम्बन्धवान् माननेसे—**संसर्गकी हानि होती है**—किसी भी पदार्थका सम्पर्क अथवा सम्बन्ध एक दूसरेके साथ नहीं बनता। समवाय-समवायिकी तरह असंसृष्ट पदार्थोंके समवायवृत्तिसे संसर्गकी कल्पना न करके, पदार्थोंके अन्योऽन्य-संसर्ग (एक दूसरेके साथ सम्बन्ध) को स्वभावसिद्ध माननेपर स्याद्वाद शासनका ही आश्रय होजाता है; क्योंकि स्वभावसे ही द्रव्यका सभी गुण-कर्म-सामान्य-विशेषोंके साथ कथञ्चित् तादात्म्यका अनुभव करनेवाले ज्ञानविशेषके वशसे यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, यह सामान्य है, यह विशेष है और यह उनका अविष्वग्भावरूप (अपृथग्भूत) समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार भेद करके सन्नयनिबन्धन (समीचीन नयव्यवस्थाको लिये हुए) व्यवहार प्रवर्तता है और उससे अनेकान्तमत प्रसिद्ध होता है, जो वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है और इसलिये वैशेषिकोंके मतमें स्वभावसिद्ध संसर्गके भी न बन सकनेसे संसर्गकी हानि ही ठहरती है। **और संसर्गकी हानि होनेसे**—पदार्थोंका परस्परमें स्वतः (स्वभावसे) अथवा परतः (दूसरेके निमित्तसे) कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण—**संपूर्ण पदार्थोंकी हानि ठहरती है**—किसी भी पदार्थकी तब सत्ता अथवा व्यवस्था बन नहीं सकती।—अतः जो लोग इस हानिको नहीं चाहते उन आस्तिकोंके द्वारा वही वस्तुतत्त्व समर्थनीय है जो अभेद-भेदात्मक है, परस्परतंत्र है, प्रतीतिका विषय है तथा अर्थक्रियामें समर्थ है और इसलिये जिसमें विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। वह वस्तुतत्त्व हे वीरजिन! आपके मतमें प्रतिष्ठित है, इसीसे आपका मत अद्वितीय है—नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करनेवाला और दूसरे सभी प्रवादों (सर्वथा एकान्तवादों) से अबाध्य होनेके कारण सुव्यवस्थित है—दूसरा (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेवाला) कोई भी मत व्यवस्थित न होनेसे उसके जोड़का, सानी अथवा समान नहीं है, वह अपना उदाहरण आप है।'

समवाय पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—एक संयोग-सम्बन्ध, दूसरा समवाय-सम्बन्ध और तीसरा विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध। पहला संयोग-सम्बन्ध इसलिये नहीं बनता, क्योंकि उसकी वृत्ति द्रव्यमें मानी गई है—द्रव्योंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें वह घटित नहीं होती—और समवाय द्रव्य है नहीं, इसलिये संयोगसम्बन्धके साथ उसका योग नहीं भिडता। यदि अद्रव्यरूप समवायमें संयोगकी वृत्ति मानी जायगी तो वह गुण नहीं बन सकेगा और वैशेषिक मान्यताके विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि वैशेषिकमतमें संयोगको भी एक गुण माना है और उसको द्रव्याश्रित बतलाया है। दूसरा समवाय-सम्बन्ध इसलिये नहीं बन सकेगा, क्योंकि वह समवायान्तरकी अपेक्षा रक्खेगा और एकके अतिरिक्त दूसरा समवाय पदार्थ वैशेषिकोंने माना नहीं है। और तीसरा विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध इसलिये घटित नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र पदार्थोंका विषय ही नहीं है। यदि उसे स्वतंत्र पदार्थोंका विषय माना जायगा तो अतिप्रसंग आएगा और तब सह्याचल (पश्चिमीघाटका एक भाग) तथा विन्ध्याचल जैसे स्वतंत्र पर्वतोंमें भी विशेषण-विशेष्यभावका सम्बन्ध घटित करना होगा, जो नहीं हो सकता। विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्धकी यदि पदार्थान्तरके रूपमें संभावना की जाय तो वह सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा बिना नहीं बनता और दूसरे सम्बन्धकी अपेक्षा लेनेपर अनवस्था दोष आता है। इस तरह तीनोंमेंसे कोई भी सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारक-व्यापृत-कार्य-युक्तिः ।
न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥ ८ ॥

'सत्तात्मक पदार्थोंको—दिक्-काल-आकाश-आत्माको, पृथिव्यादि परमाणु-द्रव्योंको, परम-महत्त्वादि गुणों को तथा सामान्य-विशेष-समवायको—(सर्वथा) नित्य माननेपर उनमें विकारकी हानि होती है—कोई भी प्रकारकी विक्रिया नहीं बन सकती—विकारकी हानिसे कर्त्रादि कारकोंका (जो क्रियाविशिष्ट द्रव्य प्रसिद्ध हैं) व्यापार नहीं बन सकता, कारक-व्यापारके अभावमें (द्रव्य-गुण-कर्मरूप) कार्य नहीं बन सकता, और कार्यके अभावमें (कार्यलिङ्गात्मक अनुमानरूप तथा योग-सम्बन्ध-संसर्गरूप) युक्ति घटित नहीं हो सकती । युक्तिके अभावमें बन्ध तथा (बन्ध-फलानुभवनरूप) भोग दोनों नहीं बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है;—क्योंकि विमोक्ष बन्धपूर्वक ही होता है, बन्धके अभावमें मोक्ष कैसा ? इस तरह पूर्व पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तरकी व्यवस्था न बन सकनेसे संपूर्ण भावात्मक पदार्थोंकी हानि ठहरती है—किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती । और जब भावात्मक पदार्थ ही व्यवस्थित नहीं होते तब प्रागभाव-प्रध्वंसाऽभावादि अभावात्मक पदार्थोंकी व्यवस्था तो कैसे बन सकती है ? क्योंकि वे भावात्मक पदार्थोंके विशेषण होते हैं, स्वतंत्ररूपसे उनकी कोई सत्ता ही नहीं है । अतः (हे वीरजिन !) आपके मतसे भिन्न दूसरोंका—सर्वथा एकान्तवादी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य आदिका—मत (शासन) सब प्रकारसे दोषरूप है—देश-काल और पुरुषविशेषकी अपेक्षासे भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-गम्य सभी स्थानोंमें बाधित है ।'

अहेतुकत्व-प्रथितः स्वभावस्तस्मिन् क्रिया-कारक-विभ्रमः स्यात् ।
आबाल-सिद्धेर्विविधार्थ-सिद्धिर्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥ ९ ॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मादि नित्य द्रव्योंमें स्वभावसे ही विकार सिद्ध है अतः कारकव्यापार, कार्य और कार्ययुक्ति सब ठीक घटित होते हैं और इस तरह सकल दोष असंभव ठहरते हैं—कोई भी दोषापत्ति नहीं बन सकती; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वह स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित (प्रसिद्ध) है अथवा आबाल-सिद्धिसे विविधार्थ-सिद्धिके रूपमें प्रथित है ? उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि नित्य पदार्थोंमें विकारी होनेका स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित है तो ऐसी दशामें क्रिया और कारकका विभ्रम ठहरता है—स्वभावसे ही पदार्थोंका ज्ञान तथा आविर्भाव होनेसे ज्ञप्ति तथा उत्पत्तिरूप जो प्रतीयमान क्रिया है उसके भ्रान्तिरूप होनेका प्रसंग आता है, अन्यथा स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं बनती । और क्रियाके विभ्रमसे प्रतिभासमान कारक-समूह भी विभ्रमरूप हो जाता है; क्योंकि क्रियाविशिष्ट द्रव्यका नाम कारक प्रसिद्ध है, क्रियासे कारककी उत्पत्ति नहीं । और स्वभाववादीके द्वारा क्रिया-कारकका विभ्रम मान्य नहीं किया जा सकता—विभ्रमकी मान्यतापर वादान्तरका प्रसंग आता है—सर्वथा स्वभाववाद स्थिर न रहकर एक नया विभ्रमवाद और खड़ा हो जाता है । परन्तु (हे वीरजिन !) क्या आपसे—आपके स्याद्वाद-शासनसे—द्वेष रखनेवालेके यहाँ यह वादान्तर बनता है ?—नहीं बनता; क्योंकि 'सब कुछ विभ्रम है' ऐसा एकान्तरूप वादान्तर स्वीकार करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस विभ्रममें अविभ्रम-अभ्रान्ति है या वह भी विभ्रम-भ्रान्तिरूप है ? यदि अविभ्रम है तो विभ्रम-एकान्त न रहा—अविभ्रम भी कोई पदार्थ ठहरा । और यदि विभ्रममें भी विभ्रम है तो सर्वत्र अभ्रान्तिकी सिद्धि हुई; क्योंकि विभ्रममें विभ्रम होनेसे वास्तविक स्वरूपकी प्रतिष्ठा होती है । और ऐसी हालतमें स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती ।'

'यदि यह कहा जाय कि (बिना किसी हेतुके नहीं किन्तु) आबालसिद्धिरूप हेतुसे विविधार्थकी—सर्वथा नित्य पदार्थोंमें विक्रिया तथा कारक-व्यापारादिकी—सिद्धिके रूपमें स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है—अर्थात् क्रिया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारकादिरूप जो विविध अर्थ हैं उन्हें बालक तक भी स्वीकार करते हैं इसलिये वे सिद्ध हैं और उनका इस प्रकारसे सिद्ध होना ही स्वभाव है—तो यह वादान्तर हुआ; परन्तु यह वादान्तर भी (हे वीरभगवन्!) आपके द्वेषियों के यहाँ बनता कहाँ है?—क्योंकि वह आबाल-सिद्धिसे होनेवाली निर्णीति नित्यादि सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेने पर नहीं बन सकती, जिससे सब पदार्थों सब कार्यों और सब कारणोंकी सिद्धि होती। कारण यह कि वह निर्णीति अनित्य होती है और बिना विक्रियाके बनती नहीं, इसलिये सर्वथा नित्य-एकान्तके साथ घटित नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे किसी पदार्थकी सिद्धिके न हो सकनेपर दूसरोंके पूछने अथवा दूषणार्थ जिज्ञासा करनेपर स्वभाववादका अवलम्बन ले लेना युक्त नहीं है; क्योंकि इससे अतिप्रसंग आता है—प्रकृतसे अन्यत्र विपक्षमें भी यह घटित होता है—सर्वथा अनित्य अथवा क्षणिक-एकान्तको सिद्ध करनेके लिये भी स्वभाव-एकान्तका अवलम्बन लिया जा सकता है। और यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे विविधार्थकी सिद्धिरूप स्वभाव है तो फिर स्वभाव-एकान्त-वाद कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि स्वभावकी तो स्वभावसे ही व्यवस्थिति है उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके बलसे व्यवस्थापित करनेपर स्वभाव-एकान्त स्थिर नहीं रहता। इस तरह हे वीर जिन! आपके अनेकान्तशासनसे विरोध रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ कोई भी वादान्तर (एकके साथ दूसरा वाद) बन नहीं सकता—वादान्तर तो सम्यक् एकान्तके रूपमें आपके मित्रों—सपक्षियों अथवा अनेकान्तवादियोंके यहाँ ही घटित होता है।

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्म-तत्त्वं देहादनन्यत्व-पृथक्त्व-क्लृप्तेः।
तेषां ज्ञ-तत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे का बन्ध-मोक्ष-स्थितिरप्रमेये ॥ १० ॥

'जीव आत्मा देहसे (सर्वथा) अभिन्न है या भिन्न इस कल्पनाके होनेसे (और अभिन्नत्व तथा भिन्नत्व दोनोंमेंसे किसी एक भी विकल्पके निर्दोष सिद्ध न हो सकनेसे*) जिन्होंने आत्मतत्त्वको 'अवक्तव्य'—वचनके अगोचर अथवा अनिर्वचनीय—माना है उनके मतमें आत्मतत्त्व अनवधार्य (अज्ञेय) तत्त्व हो जाता है—प्रमेय नहीं रहता। और आत्मतत्त्वके अनवधार्य होनेपर—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय न रहनेपर—बन्ध और मोक्षकी कौनसी स्थिति बन सकती है? बन्ध्या-पुत्रकी तरह कोई भी स्थिति नहीं बन सकती—न बन्ध व्यवस्थित होता है और न मोक्ष। और इसलिये बन्ध-मोक्षकी सारी चर्चा व्यर्थ ठहरती है।'

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये' सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥ ११ ॥

'प्रथम क्षणमें नष्ट हुआ चित्त-आत्मा दूसरे क्षणमें विद्यमान नहीं रहता' यह जो (बौद्धोंका) क्षणिकात्मवाद है वह (केवल) प्रवाद है—प्रमाणशून्य वाद होनेसे प्रलापमात्र है; क्योंकि इसका ज्ञापक—अनुमान करानेवाला—कोई भी दृष्ट या अदृष्टहेतु नहीं बनता।

---

* देहसे आत्माको सर्वथा अभिन्न माननेपर संसारके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि देह-रूपादिककी तरह देहात्मक आत्माका भवान्तर-गमन तब बन नहीं सकता और इसलिये उसी भवमें उसका विनाश ठहरता है, विनाशका नित्यत्वके साथ विरोध होनेसे आत्मा नित्य नहीं रहता और चार्वाकमतके आश्रयका प्रसंग आता है, जो आत्मतत्त्वको भिन्नतत्त्व न मानकर पृथिवी आदि भूतचतुष्कका ही विकार अथवा कार्य मानता है और जो प्रमाण-विरुद्ध है तथा आत्मतत्त्व-वादियोंको इष्ट नहीं है। और देहसे आत्माको सर्वथा भिन्न माननेपर देहके उपकार-अपकारसे आत्माके सुख-दुःख नहीं बनते, सुख-दुःखका अभाव होनेपर राग-द्वेष नहीं बन सकते और राग-द्वेषके अभावमें धर्म-अधर्म संभव नहीं हो सकते। अतः 'स्वदेहमें अनुरागका सद्भाव होनेसे उसके उपकार-अपकारके द्वारा आत्माके सुख-दुःख उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह स्वगृहादिके उपकार-अपकारसे उत्पन्न होते हैं' यह बात कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती। इस तरह दोनों ही विकल्प सदोष ठहरते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(यदि यह कहा जाय कि 'जो सत् है वह सब स्वभावसे ही क्षणिक है', जैसे शब्द और विद्युत आदि; अपना आत्मा भी चूँकि सत है अतः वह भी स्वभावसे क्षणिक है, और वह स्वभावहेतु ही उसका ज्ञापक है, तो इस प्रकारके अनुमानपर ऐसा कहने अथवा अनुमान लगानेपर—यह प्रश्न पैदा होता है कि वह हेतु स्वयं प्रतिपत्ता (ज्ञाता) के द्वारा दृष्ट (देखा गया) है या अदृष्ट (नहीं देखा गया अर्थात कल्पनारोपित) है ? दृष्टहेतु संभव नहीं हो सकता; क्योंकि सब कुछ क्षणिक होनेके कारण दर्शनके अनन्तर ही उसका विनाश हो जानेसे अनुमानकालमें भी उसका अभाव होता है। साथ ही, चित्तविशेषके लिङ्गदर्शी उस अनुमाताका भी संभव नहीं रहता। इसी तरह कल्पनारोपित (कल्पित) अदृष्ट हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि उस कल्पनाका भी तत्क्षण विनाश होजानेसे अनुमानकालमें सद्भाव नहीं रहता।)

'(यदि यह कहा जाय कि व्याप्तिके ग्रहण कालमें लिङ्गदर्शनकी जो कल्पना उत्पन्न हुई थी उसके तत्क्षण विनाश हो जानेपर भी उसकी वासना (संस्कार) बनी रहती है अतः अनुमानकालमें लिङ्गदर्शनसे प्रबुद्ध हुई उस वासनाके सामर्थ्यसे अनुमान प्रवृत्त होता ही है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि) सन्तानभिन्न (चित्त) में—हेतु (साधन) और हेतुमद् (साध्य) के अविनाभाव-सम्बन्धरूप व्याप्तिके ग्राहक चित्तसे अनुमाताका चित्त (सन्तानतः भिन्नकी तरह) भिन्नसन्तान होनेसे उसमें—वासनाका अस्तित्व नहीं बन सकता—यदि भिन्न सन्तानवालेके वासनाका अस्तित्व माना जाय तो भिन्नसन्तान देवदत्त-द्वारा साध्य-साधनकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर जिनदत्तके (व्याप्तिका ग्रहण न होने पर भी) साधनको देखने मात्रसे साध्यके अनुमानका प्रसंग आएगा; क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। और यह बात संभव नहीं हो सकती; क्योंकि व्याप्तिके ग्रहण विना अनुमान प्रवर्तित नहीं हो सकता)।'

आधुनिक भाषाओंकी व्युत्पत्तिके लिये जैनसाहित्यका महत्व

(ले० —बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.)

गुजराती पत्र 'श्री जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष १२ अंक १) में प्रो० मूलराजजीका एक संक्षिप्त लेख 'दो शब्दोंकी व्युत्पत्ति' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है। उससे प्रकट होता है कि जैन साहित्यका अध्ययन भारतवर्ष की आधुनिक लोकभाषाओंकी व्युत्पत्तिकी जानकारीके लिये भी उपयोगी एवं आवश्यक है।

पंजाब प्रान्तमें प्रचलित लोकभाषाका एक शब्द है 'कुड़ी', जिसका अर्थ है कन्या, लड़की अथवा पुत्री। यह शब्द अपने इस प्रकृतरूपमें अथवा किसी रूपान्तर को लिये हुए अन्य किसी प्रान्तीय भाषामें नहीं मिलता संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओंमें भी अभी तक ऐसा कोई शब्द जाननेमें नहीं आया जिससे 'कुड़ी', शब्दकी व्युत्पत्ति की जासके।

किन्तु इस शब्द । संस्कृत रूप एक प्राचीन जैन ग्रन्थ 'बृहत्कथाकोष' में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थके रचयिता दिगम्बराचार्य हरिषेण थे और उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना विक्रम संवत् ६८६ (सन् ६३२ ई०) में की थी। यह ग्रन्थ अब प्रसिद्ध प्राच्य भाषाविज्ञ डा० ए. एन. उपाध्ये द्वारा संपादित होकर सिंघी जैन ग्रंथमाला के अन्तर्गत, भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। उक्त कथाकोषकी कथा नं० ३० (पृ० ५०) का शीर्षक 'मृतक संसर्ग नष्ट माला कथानकम्' है। इस कथामें लड़कीके अर्थमें 'कुटिकां' शब्दका प्रयोग हुआ है* । फुटनोट तथा भूमिका पृ० १०३ पर दिये हुए विशेषशब्दार्थकोषमें

* बृहत्कथाकोष, कथा नं० ३०, श्लोक ८-९।

विद्वान सम्पादकने भी 'कुटिका' का अर्थ 'कन्याम्' अर्थात् पुत्री किया है।

प्रस्तुत कथाका प्रारंभ इस प्रकार होता है—उत्तरापथके बलदेवपुरमें बलवर्धन नामक प्रतापी राजा था जिसकी अति सुन्दर कुल वर्धनी नामकी रानी थी। उस नगरमें धनदत्त नामक एक 'टक्क श्रेष्ठी' + रहता था। इसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था। इनके धनदेवी नामकी पुत्री थी। इस नगरमें एक दूसरा 'टक्कश्रेष्ठी' पूर्णभद्र रहता था। इसकी स्त्रीका नाम पूर्णचन्द्रा था और पुत्रका पूर्णचन्द्र। एक दिन पूर्णभद्रने धनदत्तसे कहा कि 'आप अपनी पुत्री धनवतीका विवाह मेरे पुत्र पूर्णचन्द्रके साथ करदें।' धनदत्तने उत्तर दिया कि 'यदि आप मुझे बहुत-सा धन देवें तो मैं अपनी लड़की देदूँ।' इसपर पूर्णभद्र 'बोला धन आप चाहे जितना लेलें लड़की जल्दी देदें।'

कथामें धनदत्त और पूर्णभद्र दोनोंके ही लिये 'टक्कश्रेष्ठी' शब्द प्रयुक्त हुआ है और प्रो० मूलराज जीने इसका अर्थ किया है—टक्कदेशका 'अथवा टक्कदेशका रहने वाला। बृहत्कथाकोषकी कथा नं० ९३ में भी टक्कः, टक्किनी, टक्कानाँ शब्द आये हैं (श्लोक ६१, ६२, ६७)। और वहाँ डा० उपाध्येने टक्क या टक्ककका अर्थ कंटक-कंजूस (a niggard) किया है और अनुमान किया है कि संभवतया 'ठक्क' शब्दकी भाँति यह कोई पेशेवर नाम (a professional name) है×। किन्तु जैसा कि प्रो० मूलराजजीका कथन है कि 'कोषोंमें टक्क नाम वाहीक जातिका है। राजतरङ्गिणी (५, १५०) में भी टक्कदेशका उल्लेख है और इससे पंजाबका तात्पर्य है। पंजाबके पर्वत प्रदेशकी लिपिको आज भी 'टाकरी' कहते हैं' अस्तु कमसेकम प्रस्तुत कथामें तो टक्क शब्दका अर्थ क्षेत्र सूचक अर्थात् पंजाब ही ठीक जँचता है। वाहिक (टक्क) जातिका निवास पश्चिमोत्तर प्रान्तमें ही था। श्रवणबेलगोलके प्रसिद्ध शिलालेख नं० ५४ में संगृहीत स्वामीसमन्तभद्रकी उक्तिमें भी 'ठक्क' शब्द आया है, जो कि श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके मतानुसार पंजाब देशका ही द्योतक है। कनिघंम साहिबने अपने ग्रन्थ 'एन्शेन्ट जागरफी' में भी ठक्क देशका पंजाबसे ही समीकरण किया है। मि० लेविस राइस, एडवर्ड पी० राइस, तथा रा० ब० आर० नरसिंहाचार्यने भी ठक्क को पंजाब देश ही लिखा है।

अतः इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि बृहत्कथा कोषकी प्रस्तुत कथामें उल्लिखित टक्कश्रेष्ठीका अर्थ पंजाबी सेठ ही है, और उसके साथ लड़कीके अर्थमें शुद्ध पंजाबी शब्द कुड़ीके संस्कृत रूप 'कुटिका' शब्द का योग सर्वथा संगत और उचित है। दूसरे, पंजाब प्रान्तमें सदैवसे ही लड़कियोंकी कुछ कमी रहती आई है और इसलिये वहाँ कन्याविक्रय प्रायः होता रहता है। कथामें धनदत्तका अपनी लड़कीके बदलेमें धनकी मांग करना इसी बातको सूचित करता है।

कथाकोषके उपर्युक्त संस्करणकी भूमिका (पृ० १०१-११०) में डा० उपाध्येने ऐसे लगभग ३५० शब्दों का कोष दिया है जो प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं, प्राकृत या देसी भाषाओंमें प्रयुक्त होते हैं किन्तु संस्कृत साहित्यमें जिनका प्रयोग नहीं होता। इन शब्दोंका कथाकोषकारने संस्कृत रूप देकर या अपने मूल रूपमें ही प्रयोग किया है डा० उपाध्येके शब्दोंमें "ये शाब्दिक प्रयोग अपने रूप और अर्थों द्वारा सहज ही हमें भारतवर्षकी आधुनिक भाषाओंके तत्तत् शब्दों का स्मरण करादेते हैं-चाहे ये भाषायें आर्य हों या द्राविड़, और इन शब्दोंके लिये तत्सम तद्भव प्राकृत अथवा देसी शब्द उपलब्ध हों या न हों।"

इस प्रकार, विशाल जैन साहित्यके सम्यक् अध्ययन द्वारा विभिन्न आधुनिक भारतीय लोकभाषाओंके न जाने कितने शब्दोंकी व्युत्पत्तिपर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है।

१७-११-४६

+ वही, श्लोक ३, ५।

× Brhat-Kathakosa, Introd. p. 105

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

[सम्पादकीय]

[‘पुरातन-जैनवाक्य-सूची’ की प्रस्तावनामें, जो अभी तक अप्रकाशित है और अब जल्दी ही प्रेसको जानेवाली है, ‘ग्रन्थ और ग्रन्थकार’ नामका भी एक प्रकरण है, जिसमें मैंने इस वाक्यसूचीके आधारभूत ६३ मूलग्रन्थोंका परिचय दिया है। इस प्रकरणमेंसे नमूनेके तौरपर कुछ ग्रन्थोंका परिचय अनेकान्त-पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है:—]

१ मूलाचार और वट्टकेर—

‘मूलाचार’ जैन साधुओंके आचार-विषयका एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। वर्तमानमें दिगम्बर सम्प्रदायका ‘आचाराङ्ग’ सूत्र समझा जाता है। धवला टीकामें आचाराङ्गके नामसे उसका नमूना प्रस्तुत करते हुए कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं, वे भी इस ग्रंथमें पाई जाती हैं; जब कि श्वेताम्बरोंके आचाराङ्गमें वे उपलब्ध नहीं हैं, इससे भी इस ग्रंथको आचाराङ्गकी ख्याति प्राप्त है। इसपर ‘आचारवृत्ति’ नामकी एक टीका आचार्य वसुनन्दीकी उपलब्ध है, जिसमें इस ग्रंथको आचाराङ्गका द्वादश अधिकारोंमें उपसंहार (सारोद्धार) बतलाया है, और उसके तथा भाषाटीकाके अनुसार इस ग्रंथकी पद्यसंख्या १२४३ है। वसुनन्दी आचार्यने अपनी टीकामें इस ग्रंथके कर्ताको वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमें उल्लेखित किया है—पहला रूप टीकाके प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्यमें, दूसरा ९वें, १०वें तथा ११वें अधिकारोंके सन्धि-वाक्योंमें और तीसरा ७वें अधिकारके सन्धिवाक्यमें पाया जाता है*। परन्तु इस नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रंथप्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता, और इस लिये ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कॉलरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं?

मूलाचारकी कितनी ही ऐसी पुरानी हस्तलिखित प्रतियां पाई जाती हैं जिनमें ग्रंथकर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया हुआ है। डाक्टर ए. एन. उपाध्येको दक्षिणभारतकी कुछ ऐसी प्रतियोंको स्वयं देखनेका अवसर मिला है और जिन्हें, प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें, उन्होंने quite genuine in their appearance ‘अपनेरूपमें बिना किसी मिलावटके बिल्कुल असली प्रतीत होने वाली’ लिखा है। इसके सिवाय, माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थमालामें मूलाचारकी जो सटीक प्रति प्रकाशित हुई है उसकी अन्तिम पुष्पिकामें भी मूलाचारको ‘कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत’ लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है:—

“इति मूलाचार-विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्य-विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।”

यह सब देखकर मेरे हृदयमें यह खयाल उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द एक बहुत बड़े प्रवर्तक आचार्य हुए हैं—आचार्यभक्तिमें उन्होंने स्वयं आचार्यके लिये ‘प्रवर्तक’ होना एक बहुत बड़ी विशेषता बतलाया है÷ और ‘प्रवर्तक’ विशिष्ट साधुओंकी एक उपाधि है, जो श्वेताम्बर जैनसमाज में आज भी व्यवहृत है, हो सकता है कि कुन्दकुन्दके इस प्रवर्तकत्व-गुणको लेकर ही उनके लिये यह ‘वट्टकेर’ जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। और इसलिये मैंने वट्टकेर, वट्टकेरि और वट्टेरक इन तीनों शब्दोंके अर्थपर गम्भीरताके साथ विचार करना उचित समझा। तदनुसार मुझे यह मालूम हुआ कि वट्टकका अर्थ वर्तक–प्रवर्तक है, इरा

---

* देखो, माणिकचन्द्र-ग्रंथमालामें प्रकाशित ग्रन्थके दोनों भाग नं० १९, २३।

÷ बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाण-थेरे य खमण-संजुत्ता।
वट्टावणगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता॥३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गिरा-वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी-सरस्वती प्रवर्तिका हो —जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगानेवाली हो—उसे 'वट्टकेर' समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों-प्रवर्तकोंमें जो इरि गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि समर्थ-शक्तिशाली हो उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिये। तीसरे, वट्ट नाम वर्तन-आचरणका है और ईरक प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं सदाचारमें जो प्रवृत्ति करानेवाला हो उसका नाम 'वट्टेरक' है। अथवा वट्ट नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी 'वट्टेरक' कहते है। और इसलिये अर्थकी दृष्टिसे ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिये वट्टेरकाचार्य (प्रवर्तकाचार्य) जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। मूलाचारकी कुछ प्राचीन प्रतियोंमें ग्रन्थकर्तृत्वरूप से कुन्दकुन्दका स्पष्ट नामोल्लेख उसे और भी अधिक पुष्ट करता है। ऐसी वस्तुस्थितिमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने, जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग १२ किरण १) में प्रकाशित 'मूलाचारके कर्ता वट्टकेरि' शीर्षक अपने हालके लेखमें, जो यह कल्पना की है कि, बेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचारके कर्ता उन्हींमेंसे किसी बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहनेवाले होंगे और उस परसे कोण्डकुन्दादिकी तरह 'वट्टकेरि' कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत मालूम नहीं होती—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। बेट्ट शब्द, प्रेमीजीके लेखानुसार, छोटी पहाड़ीका वाचक कनडी भाषाका शब्द है और गेरि उस भाषामें गली-मोहल्लेको कहते हैं; जब कि वट्ट और वट्टक जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रन्थकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रंथभर तथा उसकी टीकामें बेट्टगेरि या बेट्टकेरि रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता। प्रत्युत इसके, ग्रन्थदानकी जो प्रशस्ति मुद्रित प्रतिमें अङ्कित है उसमें 'श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः' इस वाक्यके द्वारा 'वट्टेरक' नामका उल्लेख है, जो कि ग्रन्थकार-नामके उक्त तीनों रूपोंमेंसे एकरूप है और सार्थक है। इसके सिवाय, भाषा-साहित्य और रचना-शैलीकी दृष्टिसे भी यह ग्रंथ कुन्दकुन्दके ग्रंथोंके साथ मेल खाता है, इतना ही नहीं बल्कि कुन्दकुन्दके अनेक ग्रंथोंके वाक्य (गाथा तथा गाथांश) इस ग्रंथमें उसी तरहसे संप्रयुक्त पाये जाते हैं जिस तरह कि कुंदकुंदके अन्य ग्रंथोंमें परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थके वाक्योंका स्वतंत्र प्रयोग देखनेमें आता है*। अतः जब तक किसी स्पष्ट प्रमाण-द्वारा इस ग्रन्थके कर्तृत्वरूपमें वट्टकेराचार्य का कोई स्वतंत्र अथवा पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न हो जाय तब तक इस ग्रंथको कुन्दकुन्दकृत मानने और वट्टकेराचार्यको कुन्दकुन्दके लिये प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्य पद स्वीकार करने में कोई खास बाधा मालूम नहीं होती।

२ कार्तिकेयाऽनुप्रेक्षा और स्वामिकुमार—

यह अध्रुवादि बारह भावनाओंपर, जिन्हें भव्यजनोंके लिये आनन्दकी जननी लिखा है (गा० १), एक बड़ा ही सुन्दर, सरल तथा मार्मिक ग्रंथ है और ४८९ गाथा-संख्याको लिये हुए है। इसके उपदेश बड़े ही हृदय-ग्राही हैं, उक्तियाँ अन्तस्तलको स्पर्श करती हैं और इसीसे यह जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचलित है तथा बड़े आदर एवं प्रेमकी दृष्टिसे देखा जाता है।

इसके कर्ता ग्रन्थकी निम्न गाथा नं० ४८८ के अनुसार 'स्वामिकुमार' हैं, जिन्होंने जिनवचनकी भावनाके लिये और चंचल मनको रोकनेके लिये परमश्रद्धाके साथ इन भावनाओं की रचना की है:—

जिण-वयण-भावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुपेक्खाओ चंचलमण-रुंभणट्ठं च ॥

'कुमार' शब्द पुत्र, बालक, राजकुमार, युवराज, अविवाहित, ब्रह्मचारी आदि अर्थोंके साथ 'कार्तिकेय' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, जिसका एक आशय कृतिकाका पुत्र है और दूसरा आशय हिन्दुओंका वह षडानन देवता है जो शिवजीके उस वीर्यसे उत्पन्न हुआ था जो पहले अग्नि-देवताको प्राप्त हुआ, अग्निसे गंगामें पहुंचा और फिर गंगामें स्नान करती हुई छह कृतिकाओंके शरीरमें प्रविष्ट हुआ, जिससे उन्होंने एक एक पुत्र प्रसव किया और वे छहों पुत्र बादको विचित्र रूपमें मिलकर एक पुत्र 'कार्तिकेय' हो गये,

* देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१-२४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसके छह मुख और १२ भुजाएँ तथा १२ नेत्र बतलाए जाते हैं। और जो इसीसे शिवपुत्र, अग्निपुत्र, गंगापुत्र तथा कृतिका आदिका पुत्र कहा जाता है। कुमारके इस कार्तिकेय अर्थको लेकर ही यह ग्रंथ स्वामी कार्तिकेयकृत कहा जाता है तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामोंसे इसकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। परन्तु ग्रन्थभरमें कहीं भी ग्रन्थकारका नाम कार्तिकेय नहीं दिया और न ग्रन्थको कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामसे उल्लेखित ही किया है; प्रत्युत इसके, ग्रन्थके प्रतिज्ञा और समाप्ति-वाक्योंमें ग्रन्थका नाम सामान्यतः 'अणुपेहाओ' (अनुप्रेक्षा) और विशेषतः 'बारसअणुवेक्खा' (द्वादशानुप्रेक्षा) दिया है*। कुन्दकुन्दके इस विषयके ग्रन्थका नाम भी 'बारस अणुवेक्खा' है। तब कार्तिकेयानुप्रेक्षा यह नाम किसने और कब दिया, यह एक अनुसन्धानका विषय है। ग्रन्थपर एक-मात्र संस्कृत टीका जो उपलब्ध है वह भट्टारक शुभचन्द्रकी है और विक्रम संवत् १६१३में बनकर समाप्त हुई है। इस टीकामें अनेक स्थानोंपर ग्रंथका नाम 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' दिया है और ग्रन्थकार का नाम 'कार्तिकेय' मुनि प्रकट किया है तथा कुमारका अर्थ भी 'कार्तिकेय' बतलाया है×। इससे संभव है कि शुभचन्द्र भट्टारकके द्वारा ही यह नामकरण किया गया हो—टीकासे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें ग्रंथकाररूपमें इस नामकी उपलब्धि भी नहीं होती।

'कोहेण जो ण तप्पदि' इत्यादि गाथा नं० ३९४ की टीकामें निर्मल क्षमाको उदाहृत करते हुए घोर उपसर्गोंको सहन करने वाले सत्पुरुषोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें एक उदाहरण कार्तिकेय मुनिका भी निम्नप्रकार है:—

"स्वामिकार्तिकेयमुनिः क्रौंचराज - कृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः (प्राप्तः?)"

इसमें लिखा है कि 'स्वामिकार्तिकेय मुनि क्रौंचराजकृत उपसर्गको समभावसे सहकर समाधिपूर्वक मरणके द्वारा देवलोकको प्राप्त हुए।'

तत्त्वार्थराजवार्तिकादि ग्रन्थोंमें 'अनुत्तरोपपाददशांग' का वर्णन करते हुए, वर्द्धमानतीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्गोंको सहकर विजयादिक अनुत्तर विमानों (ग्रैवलोक) में उत्पन्न होने वाले दस अनगार साधुओंके नाम दिये हैं, उनमें कार्तिक अथवा कार्तिकेयका भी एक नाम है; परन्तु किसके द्वारा वे उपसर्गको प्राप्त हुए ऐसा कुछ उल्लेख साथमें नहीं है।

हाँ, भगवतीआराधना जैसे प्राचीन ग्रन्थकी निम्न गाथा नं० १५४९ में क्रौंचके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए एक व्यक्तिका उल्लेख जरूर है, साथमें उपसर्गस्थान 'रोहेडक' और 'शक्ति' हथियारका भी उल्लेख है—परन्तु 'कार्तिकेय' नामका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उस व्यक्तिको मात्र 'अग्नि-दयितः' लिखा है, जिसका अर्थ होता है अग्निप्रिय, अग्निका प्रेमी अथवा अग्निका प्यारा, प्रेमपात्र :—

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कौंचेण अग्गिदयिदो वि।
तं वेदणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥

'मूलाराधनादर्पण' टीकामें पं० आशाधरजीने 'अग्गि-दयिदो' (अग्निदयितः) पदका अर्थ, 'अग्निराज नाम्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेयसंज्ञः'—अग्नि नामके राजाका पुत्र कार्तिकेय संज्ञक—दिया है। कार्तिकेय मुनिकी एक कथा भी हरिषेण, श्रीचन्द्र और नेमिदत्तके कथाकोशोंमें पाई जाती है और उसमें कार्तिकेयको कृतिका मातासे उत्पन्न अग्निराजाका पुत्र बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि कार्तिकेयने बालकालमें—कुमारावस्थामें ही मुनि दीक्षा ली थी, जिसका अमुक कारण था, और कार्तिकेयकी बहन रोहेटक नगरके उस क्रौंच राजाको ब्याही थी जिसकी शक्तिसे आहत होकर अथवा जिसके किये हुए दारुण उपसर्गको जीतकर कार्तिकेय देवलोक सिधारे हैं। इस कथाके पात्र कार्तिकेय और भगवती आराधनाकी उक्त गाथाके

* वोच्छं अणुपेहाओ (गा० १); बारसअणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण (गा० ४८८)।

× यथा:—(१) कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकां वक्ष्ये शुभश्रिये- (आदिमंगल)

(२) कार्तिकेयानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा (प्रशस्ति ८)।

(३) 'स्वामिकार्तिकेयो मुनीन्द्रो अनुप्रेक्षा व्याख्यातुकामः मलगालनमंगलावाप्ति-लक्षण[मंगल]माचष्टे(गा०१)

(४) केन रचितः स्वामिकुमारेण भव्यवर-पुण्डरीक-श्री-स्वामिकार्तिकेयमुनिना आजन्मशीलधारिणा: अनुप्रेक्षाः रचिताः। (गा० ४८७)।

(५) अहं श्रीकार्तिकेयसाधुः संस्तुवे (४८९)

-देहली नया मन्दिर प्रति वि०, संवत् १८०६

पात्र 'अग्निदयित' को एक बतलाकर यह कहा जाता है और आम तौरपर माना जाता है कि यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा उन्हीं स्वामी कार्तिकेयकी बनाई हुई है जो क्रौंच राजाके उपसर्गको समभावसे सहकर देवलोक पधारे थे, और इसलिये इस ग्रंथका रचनाकाल भगवतीआराधना तथा श्री कुन्दकुन्दके ग्रंथोंसे भी पहलेका है—भले ही इस ग्रन्थ तथा भ० आराधनाकी उक्त गाथामें कार्तिकेयका स्पष्ट नामोल्लेख न हो और न कथामें इनकी इस ग्रन्थरचनाका ही कोई उल्लेख हो।

परन्तु डाक्टर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. कोल्हापुर इस मतसे सहमत नहीं है। यद्यपि वे अभीतक इस ग्रन्थके कर्ता और उसके निर्माणकालके सम्बन्धमें अपना कोई निश्चित एक मत स्थिर नहीं कर सके फिर भी उनका इतना कहना स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उतना (विक्रमसे दोसौ या तीनसौ वर्ष पहलेका ×) प्राचीन नहीं है जितना कि दन्तकथाओंके आधारपर माना जाता है, जिन्होंने ग्रन्थकार कुमारके व्यक्तित्वको अन्धकारमें डाल दिया है। और इसके मुख्य दो कारण दिये हैं, जिनका सार इस प्रकार है:—

(१) कुमारके इस अनुप्रेक्षा ग्रंथमें बारह भावनाओंकी गणनाका जो क्रम स्वीकृत है वह वह नहीं है जो कि वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके ग्रन्थों (मूलाचार, भ० आराधना तथा बारसअणुपेक्खा) में पाया जाता है, बल्कि उससे कुछ भिन्न वह क्रम है जो बादको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होता है।

(२) कुमारकी यह अनुप्रेक्षा अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई; फिर भी इसकी २७६ वीं गाथामें 'णिसुणहि' और 'भावहि' (prefer by हिं) ये अपभ्रंशके दोपद आघुसे हैं जो कि वर्तमान काल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप हैं। यह गाथा जोइन्दु (योगीन्दु) के योगसारके ६५ वें दोहेके साथ मिलती जुलती है, एक ही आशयको लिये हुए है और उक्त दोहेपरसे परिवर्तित करके रक्खी गई है। परिवर्तनादिका यह कार्य किसी बादके प्रतिलेखक द्वारा संभव मालूम नहीं होता, बल्कि कुमारने ही जान या अनजानमें जोइन्दुके दोहेका अनुसरण किया है ऐसा जान पड़ता है। उक्त दोहा और गाथा इस प्रकार हैं:—

विरला जाणहिं तत्तु बहु विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६५॥
—योगसार

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥२७६॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

और इसलिये ऐसी स्थितिमें डा० साहबका यह मत है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा उक्त कुन्दकुन्दादिके बादकी ही नहीं बल्कि परमात्मप्रकाश तथा योगसारके कर्ता योगीन्दु आचार्यके भी बाद की बनी हुई है, जिनका समय उन्होंने पूज्यपादके समाधितंत्रसे बादका और चण्ड व्याकरणसे पूर्वका अर्थात ईसाकी ५ वीं और ७ वीं शताब्दीके मध्यका निर्धारित किया है; क्योंकि परमात्मप्रकाशमें समाधितंत्रका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है और चण्ड-व्याकरणमें परमात्मप्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वां दोहा (कालु लहेविणु जोइया' इत्यादि) उदाहरणके रूपमें उद्धृत है*।

इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार भगवतीआराधना और बारसअणुवेक्खामें बारहभावनाओंका क्रम एक है, इतना ही नहीं बल्कि इन भावनाओंके नाम तथा क्रमकी प्रतिपादक गाथा भी एक ही है, और यह एक खास विशेषता है जो गाथा तथा उसमें वर्णित भावनाओंके क्रमकी अधिक प्राचीनताको सूचित करती है। वह गाथा इस प्रकार है :—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोगमसुचित्तं।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंति(ते)ज्जो ॥

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इन भावनाओंका क्रम एक स्थानपर ही नहीं बल्कि तीन स्थानोंपर विभिन्न है। उसमें अशरणके अनन्तर एकत्व-अन्यत्व भावनाओंको न देकर संसारभावनाको दिया है और संसारभावनाके अनन्तर एकत्व—अन्यत्व भावनाओंको

× पं० पन्नालाल बाकलीवालकी प्रस्तावना पृ० १; Catalogue of Sk. and Pk. Manuscripts in the C. P. and Berar P. XIV; तथा Winternitz, A history of Indian Literature, Vol. II, P. 577.

* परमात्मप्रकाशकी अंग्रेजीप्रस्तावना पृ० ६४-६७ तथा प्रस्तावनाका हिन्दीसार पृ० ११३-११५,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रक्खा है; लोकभावनाको संसारभावनाके बाद न रखकर निर्जराभावनाके बाद रक्खा है और धर्मभावनाको बोधिदुर्लभसे पहले स्थान न देकर उसके अन्तमें स्थापित किया है जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"अनित्याऽशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ६-७"

और इससे ऐसा जाना जाता है कि भावनाओंका यह क्रम, जिसका पूर्व साहित्यपरसे समर्थन नहीं होता, बादको उमास्वातिके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें इसी क्रमको अपनाया गया है। अतः यह ग्रन्थ उमास्वातिके पूर्वका नहीं बनता। तब यह उन स्वामिकार्तिकेयकी कृति भी नहीं हो सकता जो हरिषेणादि कथाकोषोंकी उक्त कथाके मुख्य पात्र हैं, भगवती आराधनाकी गाथा नं० १५४६ में 'अग्गिदयित' (अग्निपुत्र) के नामसे उल्लेखित हैं अथवा अनुत्तरोपपाददशाङ्गमें वर्णित दश अनगारोंमें जिनका नाम है। इससे अधिक ग्रन्थकार और ग्रन्थके समय-सम्बन्धमें इस क्रमविभिन्नतापरसे और कुछ फलित नहीं होता।

अब रही दूसरे कारणकी बात, जहाँ तक मैंने उसपर विचार किया है और ग्रन्थकी पूर्वापर स्थितिको देखा है उस परसे मुझे यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि ग्रंथमें उक्त गाथा नं० २७६ की स्थिति बहुत ही संदिग्ध है और वह मूलतः ग्रंथका अंग मालूम नहीं होती—बादको किसी तरहपर प्रक्षिप्त हुई जान पड़ती है। क्योंकि उक्त गाथा 'लोकभावना' अधिकारके अन्तर्गत है, जिसमें लोकसंस्थान, लोकवर्ती जीवादि छह द्रव्य, जीवके ज्ञानगुण और श्रुतज्ञानके विकल्परूप नैगमादि सात नय, इन सबका संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर व्यवस्थित वर्णन गाथा नं० ११५ से २७८ तक पाया जाता है। २७८ वीं गाथामें नयोंके कथनका उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

एवं विविहणएहिं जो वत्थू ववहरेदि लोयम्मि।
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग-मोक्खं च ॥

इसके अनन्तर 'विरला णिसुणहिं तच्चं' इत्यादि गाथा नं० २७६ है, जो औपदेशिक ढंगको लिये हुए है और ग्रंथकी तथा इस अधिकारकी कथन-शैलीके साथ कुछ संगत मालूम नहीं होती—खासकर क्रम प्राप्त गाथा नं० २८० की उपस्थितिमें, जो उसकी स्थितिको और भी सन्दिग्ध कर देती है, और जो निम्न प्रकार है:—

तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चलभावेण गिह्णदे जो हि।
तं चिय भावेइ सया सो वि य तच्चं वियाणेई ॥
॥२८०॥

इसमें बतलाया है कि, जो उपर्युक्त तत्त्वको—जीवादिविषयक तत्त्वज्ञानको अथवा उसके मर्मको—स्थिरभावसे—दृढ़ताके साथ—ग्रहण करता है और सदा उसकी भावना रखता है वह तत्त्वको सविशेष रूपसे जाननेमें समर्थ होता है।

इसके अनंतर दो गाथाएँ और देकर 'एव लोयसहावं जो झायदि' इत्यादि रूपसे गाथा नं० २८३ दी हुई है, जो लोकभावनाके उपसंहारको लिये हुए उसकी समाप्ति-सूचक है और अपने स्थानपर ठीक रूपसे स्थित है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहिं संतत्तो ।२८१।
सो ण वसो इत्थिजणे सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण।
जो ण य गिह्णदि गंथं अब्भंतर बाहिरं सव्वं ।१८२।

इनमेंसे पहली गाथामें चार प्रश्न किये गए हैं—१ कौन स्त्रीजनोंके वशमें नहीं होता? २ मदन—कामदेवसे किसका मान खंडित नहीं होता?, ३ कौन इन्द्रियोंके द्वारा जीता नहीं जाता?, ४ कौन कषायोंसे संतप्त नहीं होता? दूसरी गाथमें केवल दो प्रश्नोंका ही उत्तर दिया गया है जो कि एक खटकने वाली बात है, और वह उत्तर यह है कि—स्त्रीजनोंके वशमें वह नहीं होता और वह इन्द्रियों से जीता नहीं जाता जो मोहसे बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहको ग्रहण नहीं करता है।'

इन दोनों गाथाओंकी लोकभावनाके प्रकरणके साथ कोई संगति नहीं बैठती और न ग्रन्थमें अन्यत्र ही कथनकी ऐसी शैलीको अपनाया गया है। इससे ये दोनों ही गाथाएं स्पष्ट रूपसे प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं और अपनी इस प्रक्षिप्तताके कारण उक्त 'विरला णिसुणहिं तच्चं' नामकी गाथा नं० २७६ की प्रक्षिप्तताकी संभावनाको और दृढ करती हैं। मेरी रायमें इन दोनों गाथाओंकी तरह २७६ नम्बरकी गाथा भी प्रक्षिप्त है, जिसे किसीने अपनी ग्रन्थप्रतिमें अपने उपयोगके

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

लिये संभवतः गाथा नं० २८० के आसपास हाशियेपर, उसके टिप्पणके रूपमें, नोट कर रक्खा होगा, और जो प्रति-लेखककी असावधानीसे मूलमें प्रविष्ट हो गई है। प्रवेशका यह कार्य भ० शुभचन्द्रकी टीकासे पहले ही हुआ है, इसीसे इन तीनों गाथाओंपर भी शुभचन्द्रकी टीका उपलब्ध है और उसमें (तदनुसार पं० जयचन्द्रजीकी भाषा टीकामें भी) बड़ी खींचातानीके साथ इनका सम्बन्ध जोड़नेकी चेष्टा की गई है; परन्तु सम्बन्ध जुड़ता नहीं है। ऐसी स्थितिमें उक्त गाथाकी उपस्थितिपरसे यह कल्पित करलेना कि उसे स्वामि-कुमारने ही योगसारके उक्त दोहेको परिवर्तित करके बनाया है, समुचित प्रतीत नहीं होता—खासकर उस हालतमें जबकि ग्रंथ-भरमें अपभ्रंशभाषाका और कोई प्रयोग भी न पाया जाता हो। बहुत संभव है कि किसी दूसरे विद्वानने दोहेको गाथाका रूप देकर उसे अपनी ग्रन्थप्रतिमें नोट किया हो, और यह भी संभव है कि यह गाथा साधारणसे पाठ भेदके साथ अधिक प्राचीन हो और योगीन्दुने ही इसपरसे थोड़ेसे परि-वर्तनके साथ अपना उक्त दोहा बनाया हो; क्योंकि योगीन्दुके परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथोंमें और भी कितने ही दोहे ऐसे पाये जाते हैं जो भावपाहुड तथा समाधितंत्रादिके पद्योंपर से परिवर्तित करके बनाये गये हैं और जिसे डाक्टर साहबने स्वयं स्वीकार किया है; जबकि कुमारके इस ग्रंथकी ऐसी कोई बात अभी तक सामने नहीं आई—कुछ गाथाएँ ऐसी जरूर देखनेमें आती हैं जो कुन्दकुन्द तथा शिवार्य जैसे आचार्योंके ग्रन्थोंमें भी समानरूपसे पाई जाती हैं और वे और भी प्राचीन स्रोतसे सम्बन्ध रखने वाली हो सकती हैं, जिसका एक नमूना भावनाओंके नामवाली गाथाका ऊपर दिया जा चुका है। अतः इस विवादापन्न गाथाके सम्बन्धमें उक्त कल्पना करके यह नतीजा निकालना कि, यह ग्रन्थ जोइन्दुके योगसारसे—ईसाकी प्रायः छठी शताब्दिसे—बादका बना हुआ है, ठीक मालूम नहीं होता। मेरी समझमें यह ग्रंथ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे अधिक बादका नहीं है—उसके निकटवर्ती किसी समयका होना चाहिये। और इसके कर्ता वे अग्निपुत्र कार्तिकेयमुनि नहीं है जो आम-तौरपर इसके कर्ता समझे जाते हैं और क्रौंचराजाके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए थे, बल्कि स्वामिकुमार नामके आचार्य ही है जिस नामका उल्लेख उन्होंने स्वयं अन्तमंगलकी गाथामें श्लेषरूपसे भी किया है:—

तिहुयण-पहाण-सामिं कुमार-काले वि तविय-तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

इसमें वसुपूज्यसुत वासुपूज्य, मल्लि और अन्तके तीन नेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान ऐसे पाँच कुमार-श्रमण तीर्थंकरोंको वन्दना की गई है, जिन्होंने कुमारावस्थामें ही जिन-दीक्षा लेकर तपश्चरण किया है और जो तीन लोकके प्रधान स्वामी हैं। और इससे ऐसा ध्वनित होता है कि ग्रन्थकार भी कुमारश्रमण थे, बालब्रह्मचारी थे और उन्होंने बाल्या-वस्थामें ही जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण किया है—जैसा कि उनके विषयमें प्रसिद्ध है, और इसीसे उन्होंने, अपनेको विशेषरूपमें इष्ट, पाँच कुमार तीर्थंकरोंकी यहाँ स्तुति की है।

स्वामि-शब्दका व्यवहार दक्षिणदेशमें अधिक है और वह व्यक्ति-विशेषोंके साथ उनकी प्रतिष्ठाका द्योतक होता है। कुमार, कुमारसेन, कुमारनन्दी और कुमारस्वामी जैसे नामोंके आचार्य भी दक्षिणमें हुए हैं। दक्षिण देशमें बहुत प्राचीन कालसे क्षेत्रपालकी पूजाका भी प्रचार रहा है और इस ग्रन्थकी गाथा नं० २५ में 'क्षेत्रपाल' का स्पष्ट नामोल्लेख करके उसके विषयमें फैली हुई रक्षा-सम्बन्धी मिथ्या धारणाका निषेध भी किया है। इन सब बातोंपरसे ग्रन्थकार महोदय प्रायः दक्षिण देशके आचार्य मालूम होते हैं, जैसाकि डाक्टर उपाध्येने भी अनुमान किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग-स्तोत्र

[यह स्तोत्र कोई २० वर्ष पहले, अगस्त सन् १६२६ में, काँधला जि० मुजफ्फरनगरके जैनमन्दिर-शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, मुझे देखनेको मिला था; आज इसे अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाता है। इसमें अलङ्कार-छटाको लिये हुए वीतरागदेवके स्वरूपका निर्देश करते हुए बार बार यह घोषित किया गया है कि 'जो पुण्य-हीन हैं वे ऐसे वीतरागदेवका दर्शन नहीं कर पाते।'—अर्थात् वीतरागका दर्शन-अनुभवन और सेवा-भजन बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है। स्तोत्रकी पद-रचना प्रायः सरल तथा सुगम है और उसपरसे सहज हीमें—बिना किसी विशेष परिश्रमके—बहुतकुछ अर्थावबोध हो जाता है, इसीसे स्तोत्रका अर्थ साथमें देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। यह स्तोत्र ८वें पद्यपरसे 'कल्याणकीर्ति' आचार्यका बनाया हुआ जान पड़ता है और ९वें पद्यमें श्लेषरूपसे 'पद्मसेन' और 'नरेन्द्रसेन' नामके आचार्योंका भी उल्लेख किया गया है, जो कल्याणकीर्तिके गुरुजन मालूम होते हैं। कल्याणकीर्ति, पद्मसेन और नरेन्द्रसेन नामके अनेक आचार्य हो गये हैं, अभी यह निश्चित नहीं हो सका कि उनमेंसे यहाँपर कौन विवक्षित हैं।—सं०]

(वसन्ततिलका)

शान्तं शिवं शिव-पदस्य परं निदानं, सर्वज्ञमीशममलं जित-मोह-मानम् ।
संसार-नीरनिधि-मन्थन-मन्दराऽगं[1] , पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ १ ॥

अव्यक्त-मुक्ति-पद-पङ्कज-राजहंसं, विश्वाऽवतंसममरैर्विहित-प्रशंसम् ।
कन्दर्प-भूमिरुह-भञ्जन-मत्त-नागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ २ ॥

संसार-नीरनिधि-तारण-यानपात्रं, ज्ञानैक-पात्रमतिमात्र-मनोज्ञ-गात्रम् ।
दुर्वार-मार-घन-पातन-वात-रागं[2] , पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ३ ॥

दान्तं नितान्तमतिकान्तमनन्तरूपं, योगीश्वरं किमपि संविदित-स्वरूपम् ।
संसार-मारव-पथाऽद्भुत-निर्भराऽगं[3] , पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ४ ॥

दुष्कर्म-भीत-जनता-शरणं सुरेन्द्रैः, निश्शेष-दोष-रहितं महितं नरेन्द्रैः ।
तीर्थङ्करं भविक-दापित-मुक्ति-मार्गं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ५ ॥

कल्याण-वल्लि-वन-पल्लवनाऽम्बुवाहं, त्रैलोक्य-लोक-नयनैक-सुधा-प्रवाहं ।
सिद्ध्यङ्गना-वर-विलास-निबद्ध-रागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ६ ॥

लोकाऽवलोकन-कलाऽतिशय-प्रकाशं, व्यालोक-कीर्ति-वर,निर्जित-कम्बु[4] -हास्यम् ।
वाणी-तरङ्ग-नवरङ्ग-लसत्तडागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ७ ॥

कल्याणकीर्ति-रचिताऽऽलय-कल्पवृक्षं, ध्यानाऽनले दलित-पापमुदात्त-पक्षम ।
नित्यं क्षमा-भर-धुरन्धर-शेषनागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ८ ॥

श्रीजैनसूरि-विनत-क्रम-पद्मसेनं, हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम् ।
लीला-विलंघित-भवाऽम्बुधि-मध्यभागं, पश्यन्ति पुण्य-रहिता न हि वीतरागम् ॥ ९ ॥

---

१ मन्दराऽचल. २ पवन-वेग. ३ पूर्ण छायातरु. ४ शङ्ख ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर राधाकृष्णनके विचार

पेरिसमें संयुक्त राष्ट्रीयसंघके शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठनके प्रथम अधिवेशनमें भाषण देते हुए हालमें सर राधाकृष्णनने कहा:—

मानवताका पुनः-संस्थापन

"यूनेस्काका उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि वह थोड़ीसी नयी व्यवस्थाएँ करके बैठ जाये। उसे तो जीवनकी एक नयी दिशा, एक नया दृष्टिकोण और एक नयी विचारधाराका अन्वेषण करना है, जो मानव जातिको स्फुरण प्रदान कर सके। अपने देशमें हम लोग इस बातमें विश्वास रखते हैं कि ऐसी विचारधारामें आध्यात्मिकताका पुट अवश्य हो। धुरी राष्ट्रोंका उदाहरण हमारे लिये चेतावनी है। जर्मनी और जापान बौद्धिक अवदानों, वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगिक कुशलता और सैन्यशक्तिमें बढ़े चढ़े थे, लेकिन फिर भी पिछले महायुद्धमें वे पराजित हुए। वे इसलिये असफल हुए कि उनमें विवेक और बुद्धि का अभाव था।

अगस्त १९४६के अन्तिम दिन जब न्यूरेम्बर्गके बन्दियों से पूछा गया कि उन्हें कोई युक्ति देनी है तो उनमेंसे एक फ्रैंकने कहा "प्रधान अभियुक्त एडोल्फ हिटलर जर्मन-जनता के सम्मुख अपना अन्तिम बयान देनेको यहां उपस्थित नहीं है। वैज्ञानिक त्रुटियोंके कारण हम युद्धमें पराजित नहीं हुए। परमात्माने हिटलर और हम सबके विरुद्ध, जो ईश्वरसे विमुख थे और जिन्होंने हिटलर की सेवाकी, अपना निर्णय दिया है।" जब कोई राष्ट्र खुल्लमखुल्ला परमात्मासे विमुख होकर केवल पार्थिव सफलता और समृद्धिकी ओर मन लगाता है त उसका पतन हो जाता है। आज जितनी आवश्यकता मानवको उसकी पूर्वावस्थामें लानेकी है उतनी पाठशालाओं पुस्तकालयों या दूकानों और कारखानोंको लाने की नहीं। यदि हमें एक नवीन सार्वभौम समुदायको स्फूर्ति प्रदान करनी है तो हमें मानवको स्फूर्ति दान करना चाहिये। आज ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या बहुत है जिनकी परमात्मामें आस्था नहीं है, जो दर्शनतत्त्वमें विश्वास नहीं रखते किन्तु यदि कोई हमसे यह कहे कि हम नास्तिक अथवा पराङ्मुख हैं तो हम बुरा मान जायंगे। सत्य और प्रेम ही प्रत्येक धर्मका उपदेश है। सत्य हमसे श्रद्धावान व्यक्तिका आदर करनेका आग्रह करता है और प्रेम हमें मानव-जातिके सम्मानका पाठ पढ़ाता है। व्यक्ति और मानव-जाति संसारके दो स्तम्भ हैं और अन्य समूह केवल बीचके अध्याय।

संसारकी वर्तमान दुरवस्थाके मुख्य कारण जीवनके प्रति हमारा पार्थिव दृष्टिकोण, आत्म-विद्याके प्रति हमारी अवज्ञा और आध्यात्मिक आदर्शोंके प्रति हमारी उदासीनता ही है। संसारको उन्नत करनेके लिये हमें आदर्शवादी दृष्टिकोण, दार्शनिक विचारधारा तथा आध्यात्मिक तत्त्वोंको पुनः अपनाना पड़ेगा।

नये आदर्शोंकी आवश्यकता

परन्तु मेरी सबसे अधिक चिन्ता इस बातके लिये है कि कहीं हम बुद्धिवादी ही अपने कार्यके प्रति झूठे सिद्ध न हों। हममें विनम्रता ही नहीं, सचाई भी होनी चाहिये। अपरिपक्व मस्तिष्कमें मिथ्या धारणाएं भरने और ज्ञानके स्रोतों को विषाक्त कर देनेके लिये हमीं उत्तरदायी हैं हम सरल युवकोंके मस्तिष्कोंको विकृत कर देते हैं और युद्धकी इच्छा न रखने वाले निर्दोष व्यक्तियोंकी मृत्यु तथा विनाशका नंगा नाच नाचनेवाले दानवोंके रूपमें परिणत कर देते हैं। मानव-हृदयकी कोमल भावनाओंका उन्मूलन करके उसकी सहज ललकका अन्त कर देते हैं। महान बुद्धिवादी सुकरात, जिसे पश्चिमी संसारके बुद्धिवादियोंका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, आत्म-निर्णयके सिद्धान्त पर चलता था। जब उसका अपने समयके समाजसे संघर्ष हुआ तो उसने राज्यके आदेश की हमारे नेताके शब्दोंमें "भद्र अवज्ञा" की। अपनी बौद्धिक सचाईपर आघात होनेपर राज्यके अतिक्रमणसे लोहा लेनेका साहस हममेंसे कितने बुद्धिवादियोंमें है? राज्यके आदेशोंका सत्यसे विरोध होनेपर हममेंसे कितने उन आदेशों की अवज्ञा करते हुए शहीद होनेको तैयार हैं?

हम आत्माके पुजारी हैं। हमारे होठोंसे असत्यका एक शब्द न निकलना चाहिये और न किसी मिथ्या विचारका प्रवेश ही हमारे मस्तिष्कमें होना चाहिये। मुझे इस बात की कामना है कि हम सब राजनीतिसे ऊपर उठ कर केवल विश्व आदर्शोंको ही अपनावें। एक जर्मन विचारकने कहा है "नये शोरगुलके आविष्कारकोंके इर्दगिर्द नहीं, बल्कि नवीन आदर्शोंके आविष्कारकोंके इर्दगिर्द यह दुनिया घूमती है—चुप-चाप घूमती है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साम्प्रदायिक दंगे और अहिंसा

(लेखक बा० राजकुमार जैन)

आज यह किसीसे भी छिपा नहीं कि जगह २ पर साम्प्रदायिक दंगे होरहे हैं। यह दंगे साम्प्रदायिक हैं या राजनैतिक ? इस प्रश्न का सम्बन्ध राजनीतिसे है और इस प्रश्नपर मुझे कुछ नहीं लिखना है। देखना तो इस बातका है कि इन दंगों से अहिंसाका क्या सम्बन्ध है।

अहिंसा अभयका ही एक अंग है तथा इन दोनोंमें एक विशेष सम्बन्ध है। जब तक हम अभय नहीं हैं तब तक हमारा अहिंसक होना एक सीमा तक निरर्थक है और हम भी उसी सीमाके अन्दर ही हैं। क्या हमारा आततायियोंको क्षमा कर देना और उनको इस प्रकार प्रेरणा देना ही अहिंसा है? क्षमा करनेसे पहले यह बात अवश्य ध्यानमें रक्खी जानी चाहिये कि क्षमा वही कर सकता है जिसमें शत्रु से बदला लेनेकी शक्ति हो। वे पुरुष जो उनसे डरकर अपने २ घरोंमें भयभीत हुए बैठे हैं यह नहीं कह सकते कि हम तो अहिंसक हैं। उनका इस प्रकार अहिंसाकी आड़में बैठा रहना सर्वदा दोषपूर्ण है। इस प्रकारसे वह अहिंसाको कायरतामें परिवर्तित कर रहे हैं और जो दोष अन्य समाजोंने जैन और बौद्ध धर्मकी अहिंसापर लगाया और भारतीय परतन्त्रता उसीका फल बतलाया है, उसके योग्य बन रहे हैं। याद रक्खें इस प्रकार वे केवल अहिंसा पर बल्कि अपने जैनधर्मपर भी कलंक लगा रहे हैं। 'क्षमा बड़नको चाहिये छोटनको अपराध' इस साधारण सी कहावतसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जो बड़ा है, जो शक्तिशाली है, जिसके भुजदण्डोंमें बल है, वही क्षमा कर सकता है। एक पतित, दलित तथा शक्तिविहीन पुरुष, जिसे कुछ भी चारा नहीं, क्या करेगा? वह क्षमाके सिवा और कर भी क्या सकता है? क्या एक ऐसे पुरुषकी क्षमा ही 'उत्तम क्षमा' है? नहीं—नहीं। यह तो उसकी कायरता है। एक ऐसा पुरुष जो उन्नति तथा वीरताकी सीढ़ीपर सबसे ऊंचे हो वह क्षमा करे, वह अहिंसक हो तो बात दूसरी; परन्तु एक ऐसा पुरुष जिसने किसी भी दिन उस सीढ़ीपर चढ़ने तकका साहस न किया हो, किस प्रकार क्षमा कर सकता है? वह तो बाध्य है क्षमा करनेके लिये। आज ठीक यही अवस्था जैनसमाजकी है। हमें वैसी अहिंसा नहीं चाहिये। हमें आजकल क्षमा करनेका अधिकार प्राप्त नहीं है, इसके लिये हमें अधिकार प्राप्त करना होगा। मैं कहता हूँ कि अगर हम दंगोंसे अभय हो जाएं, तो किसी भी शक्तिका साहस दंगा करनेका नहीं हो सकता है। आज जब हम अपना मान खो चुके हैं, बल, वीरता तथा शौर्य खो चुके हैं, अपनी उन्नतिके सिंहासनसे च्युत हो गये हैं, आज जब हम अभयके मार्गको भूल गये हैं और कायरताके पथपर अग्रसर हैं, तब ही नीच, पतित, अत्याचारी पुरुषोंको जिन का कि इतिहास उनके काले कारनामोंसे भरा पड़ा है, दंगा करनेका साहस हुआ है। जैनधर्म अभयका सन्देश देता है और अभय हम तब ही हो सकते हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब हम शक्तिशाली हों, हमारे भुजदण्डोंमें बल हो, वीर हों और अतिवीर हों या हमारे अन्दर असाधारण तथा अद्वितीय आत्मशक्ति हो।

वीर भगवानका आदेश है "तुम खुद जीओ, जीने दो जमानेमें सभी को" (Live and Let Live) जब हम संसारमें जीवित हो, शक्तिशाली हो, उन्नतिके शिखरपर हों, तब तुम दूसरोंको मत दबाओ और उन्हें भी जीने दो। अच्छा व्यवहार करो और अत्याचार न करो। पर यह बात नहीं है आजके लिये। अगर हम शक्तिविहीन हैं तो भी किसी को न सतावें, परन्तु आज तो हमारा अस्तित्व ही मिटाये जानेकी चुनौती दी गई है। तुम्हारी सभ्यता, तुम्हारी संस्कृति, तुम्हारे धर्म कर्म सब कुछ नष्ट किये जा सकते हैं अगर तुम इसी प्रकार कायर बने रहे। अब जब हम स्वयं ही नष्ट हो जानेवाले हैं, तब दूसरोंके रहनेका प्रश्न ही नहीं उठता। क्या अहिंसा और क्या अहिंसा?

भगवान कुन्द कुन्दने कहा है कि हमें उसी बोली में ही बोलना चाहिये जिसमें कि दूसरा पुरुष समझ सके। उसे समझानेके लिये अगर हमें उसकी ही बोलीमें बोलना पड़े तो कोई डरकी बात नहीं; परन्तु हमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हम उस ही बोलीको अपना माध्यम न बनालें। जब वह पुरुष समझ जाए तो फिर अपनी ही बोली बोलनी चाहिये। मित्रों! हमारी बोली अहिंसाकी है, लेकिन आज अपने कर्मानुसार तथा काल-चक्रकी गतिसे हम इतने कायर हो चुके हैं कि हम अहिंसक हो ही नहीं सकते। आज हमें दंगा करने वालोंको समझाना है। अगर वे हमारी बोलीमें नहीं समझते तो हमें उनको उन्हींकी बोलीमें समझाना पड़ेगा। चाहे वह बोली हिंसाकी हो या अहिंसा की। फिर जब हम जागृत हो जाएँगे और इस भेदको समझने लगेंगे, तो कोई भी शक्ति इस प्रकारका अनुचित कार्य करने का साहस न करेगी। मेरी लेखनी फिर वही लिखने को विवश है कि जब तक हम वीर बलवान नहीं, अहिंसक कैसे? हमें तो विवश होकर अहिंसाकी शरण लेनी पड़ती है।

मित्रो! आज हमें दंगा करनेवाले दुष्टोंको भगवान कुन्दकुन्दके आदेशानुसार समझाना है। अपनी बोलीमें या उनकी ही बोलीमें। अगर वे अहिंसाकी बोली नहीं समझते तो अपने प्यारे जैन धर्म तथा उसकी अहिंसाकी रक्षाके लिये, प्रचारके लिये, उन्नतिके लिये हमें हिंसाकी बोली ही बोलनी पड़ेगी। जब वे समझ जाएँगे तो हम अपनी ही बोली बोलेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर और उनका सन्देश

(लेखक—श्री कस्तूरसावजी जैन अग्रवाल ,बी. ए., बी. टी.)

[किरण १ से आगे]

पाठक अबतक धर्म और अहिंसाको जिस रूपमें देख चुके हैं उसका आधार अनुभूति (Feeling) ही प्रधानरूपसे रही है। अब हम निम्न पंक्तियोंमें उसे बौद्धिकता (Rationality) की कसौटीपर परखनेका प्रयत्न करेंगे तथा पाश्चिमात्य विचारधारा किस तरह बहती है, उसको लक्ष्यमें रखकर इसके व्यावहारिक स्वरूपका परीक्षण करेंगे।

प्रायः लोग पुनर्जन्म तथा पारलौकिक सुखमें विश्वास नहीं करते बल्कि, उसे कपोलकल्पित तथा धोखेकी टट्टी समझते हैं। जड़वादी मनुष्यजीवनका लक्ष्य आधिभौतिक उन्नति, आर्थिक उत्कर्ष तथा काम-सेवन ही समझते हैं। उनके नजदीक शरीरसे पृथक् आत्मा कोई वस्तु नहीं है किन्तु इन्द्रियजनित सुखोंका भोग करना ही परम श्रेयस्कर है। उनका कहना है कि 'ईश्वर और धर्म केवल ढोंग हैं। पुरातन कालमें खुदगरज तथा स्वार्थी किन्तु बुद्धिप्रधान पुरुषोंने केवल स्वार्थके लिये तथा अपने जीवनको सुखमय बनानेके लिये जगतके भोले प्राणियोंको ठगकर अपना उल्लू सीधा करना अपना पैदायशी हक समझ लिया था। "बेवकूफोंका माल अक्लमन्दोंकी खुराक है" इस सिद्धान्तको दुनिया पहले ही से अपना चुकी है।' जो भी हो, उनके नज़दीक धर्म एक ढकोसला है, एक जाल है, अकर्मण्यता तथा अन्धपरम्परा है। भविष्यकालीन काल्पनिक सुखोंकी लालसाके लिये वर्तमानकालको बलिवेदीपर चढ़ाना गर्हणीय है। वास्तवमें विचारशील लोगोंके चित्तमें मानवजातिकी पश्चिममें उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है—यह ऐतिहासिक सत्य है। उसी प्रकार पूर्वमें अधःपतन हो रहा है यह भी निर्विवाद है (इसका कारण धर्म समझा जाता है)। प्रकृतिपर मनुष्यका अधिकार होता जा रहा है। इसके गूढ़ रहस्य जितने आज मनुष्यको ज्ञात हैं और उनका जितना सदुपयोग अपने जीवनमें वह कर रहा है—प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारोंसे हम प्रतिक्षण अनेकविध लाभ भी उठा रहे हैं, वैज्ञानिकोंने प्रकृतिदेवीको एकनिष्ठा और लगनसे, सेवा तथा तपस्यासे प्रसन्न करके उसे अपनी आज्ञाकारिणी चेरी बना लिया है, और अभी मानव समाजकी आशापूर्ण क्रियाशीलता भी अनन्त है। मानवजातिकी वैज्ञानिक श्रमराशिकी सीमा कल्पनासे भी परिमित नहीं होती। इसीके बलपर सुखके परमोच्च शिखरपर मनुष्य आसीन हो सकता है। अतएव निराशावादियों तथा निष्क्रिय पुरुषोंका ही काल्पनिक सुख भविष्यकालीन मोक्ष है जो सर्वथा त्याज्य तथा हेय है ऐसा उनका कहना है।

असन्तोष अवनतिका कारण नहीं, किम्बहुना उन्नतिकी पहली सीढ़ी है। जबतक असंतोषसे मनुष्य जर्जर नहीं होता, हमारे मनमें अपनी दशाके सुधारनेका विचार भी नहीं पैदा होता। संतोषीका सुख प्रायः उन्नतिका घातक होता है तथा उत्कर्षकी गति सदाके लिये रुकी रहती है। मनुष्य निर्जीव तथा अकर्मण्य बन जाता है तथा गुलामी और दासत्वका वह शिकार हो जाता है। अतः असन्तोष ही हलचल जीवन पैदा करती है। वह हर प्रकारके साधनोंका अवलंबन लेकर न सिर्फ अपने आपको किं बहुना समूचे राष्ट्रको कहींसे कहीं पहुंचा देती है। साधन चाहे कैसा ही हो वह अपने उत्तम ध्येयकी प्राप्ति कर लेता है। हिंसा अथवा बलप्रयोगसे शान्ति स्थापित की जा सकती है। अतएव प्रभुता ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिए। जब हमारी नीयत अच्छी है तो मार्ग कैसा ही कण्टकाकीर्ण क्यों न हो, हिम्मत न हारनी चाहिए। यदि बुरे साधनोंसे उद्दिष्ट की सिद्धि हो सकती है तो इसमें हर्ज ही क्या? यही कारण है कि "All is well tha ends well" की दुहाई दी जाती है। हमें आम खानेसे मतलब है पेड़ गिननेसे नहीं। अतएव पाश्चिमात्य विचारधाराके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार शान्तिका पाठ पढ़ाना तथा संतोषका बेसुरा राग आलापना एक अक्षम्य अपराध तथा महापाप है, कायरताकी निशानी है तथा बुज़दिलपनकी अलामत है।

हमारे सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवनमें धर्म और ईश्वरवाद बड़ी बाधा डालता है। इसीकी आड़में अन्धविश्वासका अन्धेरा हमको आच्छादित किये हुए है। इसके नामपर करोड़ों मर मिटे हैं—खूनकी नदियां बह चुकी हैं। धर्मात्मा दुखी और अधर्मात्मा सुखी दिखलाई देते हैं या दूसरे शब्दोंमें दुःखोंका तथा हमारी मौजूदा अधोगतिका कारण धर्म ही है।

विचारशील लोगोंके चित्तमें प्रश्नोंकी उपरोक्त तरंगें अवश्य उठा करती है, मानव जातिका उत्कर्ष और सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिये यह प्रश्न जटिल होनेपर भी बड़ा रोचक, गंभीर और महत्वशाली है, उद्देश्य और ध्येयके मूलभूत तत्वोंसे इसका सम्बन्ध है, समस्त सिद्धान्तों और दर्शनोंका यही सार है। सारा संसार युगके आदिसे शान्ति और सुखकी खोजमें रत रहा है। यही कारण है कि ज्ञान और अनुभवकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ज्ञानराशिकी ऐसी श्रीवृद्धिको देखते हुए उपरोक्त प्रश्नोंका हल आसानीसे यदि नहीं तो काफी गवेषणा व अन्वेषणके उपरान्त निकाला जा सकता है। हां, वर्तमानके नये आविष्कार और खोज ज्ञानके सदुपयोगमें बाधा डालनेके लिए हमारी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हैं। यही कारण है कि धर्मके साथ २ सुख और शान्ति दुनियासे विदा होती जा रही है, अंधकारमय अधर्मरूपी अशान्तिका साम्राज्य होता जा रहा है। आस्तिकतापर नास्तिकताकी विजय गौरवकी चीज समझी जा रही है। सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्ति सारे संसारसे ऐसी गायब हो रही है; जैसे मानसरोवरसे मुक्ताफल चुगने वाले हंस। स्वार्थकी मात्रा बढ़ती जा रही है, नीति और सत्यका गला स्वार्थ साधनके लिये घोटा जा रहा है। इनके पास उन्नति इसीका नाम है, किन्तु इसीमें ही अवनति बीजरूपसे छिपी न रह कर अपना विकराल रूप प्रकट कर रही है:—

"राह वो चलते हैं—लगती है जिसमें ठोकर;
काम हम करते हैं वह—जिसमें ज़रर देखते हैं।"

भूमण्डलके इन आधुनिक विद्वानोंने या पूंजीपतियोंने धन-द्वारा ही जगतकी सभी वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करना सीखा है, अपनी आत्माकी महानताको भी धनकी तराजूपर तोलना चाहा है। इन दूषित विचारोंकी हवा हमारे दिल और दिमागोंको विषैला और गन्दा बनाती जा रही है। स्व० गुरुदेव रवीन्द्रनाथजीने विश्व-कल्याणका एक सस्ता और अच्छा नुसखा दुनिया वालोंको दिया है। हिंसासे अन्धी दुनियाको प्रेम और अहिंसाका अमृतमय संगीत सुनाया है। इनके रोचक शब्दोंमें इस मर्जका इलाज चतुराई (Politics) और तोपें नहीं–किन्तु प्रेम, श्रद्धा और त्याग है। अग्नि अग्निका शमन नहीं कर सकती, उसी प्रकार पाप पापका शमन नहीं कर सकता। शान्तिकी शक्तिका विकास ही उन्नतिका सहायक होगा। स्वनामधन्य विश्वविख्यात स्व० गुरुदेवजीका मत है कि पश्चिमी सभ्यताने आज मनुष्यकी आत्माको वासनाओंकी शृंखलाओंसे बद्ध करके घोर अवनतिके कारागारमें बन्द कर दिया है। मानवताके सच्चे विकासके लिए उनके शब्दोंका सार यहाँ दिया जाता है:—

"मनुष्यजातिकी वर्तमान सन्तानमें आधी मनुष्यता और आधी पशुता एवं बर्बरता पाई जाती है। इसका मौजूदा भयानक रूप पूर्व ऐतिहासिक युगके (Pre-Historic Period) दानवोंकी अपेक्षा अधिक सन्ताप जनक और फलतः आपत्तिजनक है। उन दानवोंमें केवल पशु-बल था, किन्तु अब मनुष्यसन्तानमें पशुबल तथा विनाशकारी बुद्धिबलका सम्मिलन है। इसने ऐसी बीभत्सता-को जन्म दिया है, जिसकी वासनामें हृदयका अभाव और अस्त्र-शस्त्रको छल-कपट-पूर्ण बना दिया है, इसने अन्धी वासनाको शक्तिशाली और कार्यक्षम बना दिया है। 'एक समय था जब एशियाके विचारशील पुरुषोंने मनुष्यमें विद्यमान पशुता और क्रूरताको रोकनेके लिए एड़ीसे चोटीका जोर लगा दिया था। किन्तु खेद है कि आज इस रोशन जमानेमें बुद्धिकी इस पाशविक सत्ताने हमारी नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिको छीन लिया है। पशुओंकी क्षमता जब नहीं थी, जीवनसे उसका संयोग अवश्य था। वह प्राणियोंकी ही सत्ता थी, किन्तु आजकलके वैज्ञानिक युगके आविष्कार उदाहरणार्थ सर्वनाशकारी बमके गोले, विषैली गैसें, प्राणघातक हवाई जहाज, प्रलयकालको लानेवाले रोबो बम ऍटम बम, आदि भयंकर अस्त्र सर्वथा जड़ हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु विज्ञान जैसी पवित्र वस्तुका दुरुपयोग करने वाले रक्तपिपासु नररूपी दानवोंको क्या कहें ? वे दुष्ट दानव अवश्य अपनी काली करतूतोंकी सजा पावेंगे, क्योंकि उन्हींके निर्मित हथियार उन्हींके विरुद्ध उपयोगमें लाए जावेंगे।"

गुरुदेवकी भविष्यवाणी सच निकली। जर्मनीने भयंकर शस्त्र तथा अस्त्रोंसे सुसज्जित होकर सारे धरातलको आश्चर्य-चकित कर दिया था, और ऐसा प्रतीत होरहा था कि इन नूतनतासे परिपूर्ण अविष्कारोंके बलपर सारे संसारपर उसकी विजय-पताका फहराने लगेगी। किन्तु आज उसी शस्त्रास्त्र और उसी रणनीतिने जिसका वह निर्माता था उसको तहस नहस करके ही दम लिया, ऐसा स्पष्ट हो गया है। ख्यात नामा डाक्टर इक़बालने भी इसी मतको प्रदर्शित किया है:—

"तुम्हारी तहज़ीब अपने खंजरसे, आपही खुदकशी करेगी, जो शाख़े नाजुकपे आशियाना बना वो नापायदार होगा।"

सच तो यह है कि पाश्चिमात्य सभ्यता तथा संस्कृति देखनेमें अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है। इसका रूप तथा शृंगार आँखोंमें चकाचौंध पैदा करता है। यह एक नशा है किन्तु इसका परिणाम अत्यन्त भयावह तथा आत्मनाशका कारण है। यह भ्रान्त धारणा समस्त संसारका सर्वनाश करेगी, अतएव किसी तरह भी इसे पूर्वीय लिबास नहीं पहिनाया जा सकेगा। खुद पश्चिममें आज अस्त्र तथा शस्त्रों की झनकार तथा अनूठे व रोचक वैज्ञानिक आविष्कारोंमें जीवनका सुमधुर सङ्गीत विलीन हो चुका है। मत्सर, प्रतियोगिता तथा प्राण-घातक आर्थिक मुकाबलेकी काली छायामें विकासका राजमार्ग भुला दिया है, और उन्हें अपनी खामखयालीने कायल कर दिया है तथा यह समझने लग गये हैं कि वे गुमराह हैं और शान्ति तथा कल्याणकी उनकी कल्पना एक ऐसा स्वप्न है जो कभी भी सत्यकी सृष्टिमें परिणत नहीं किया जा सकता।

स्व० गुरुदेव इस आपत्तिजनक परिस्थितिसे बचनेके लिए एकमात्र उपाय बतलाते रहे। उन्होंने कहीं लिखा है:—"अब समयने पलटा खाया है, अतएव पाशविक तथा जड़ शक्ति जब असफल रही है तो अन्य शक्तिकी खोज लगाना अवश्यम्भावि हो जाता है। दूसरोंको कष्ट पहुंचानेसे अब काम नहीं चलेगा बल्कि अब स्वयं कष्टको सहन करते हुए त्याग भावनाको अपनाना होगा। पिछले युगोंमें जिस तरह बुद्धिने निरे पाशविक बलपर फ़तह पाई थी, उसी तरह अब त्यागके बलबूतेपर लोभ और अहंकारका दमन करना होगा। आओ मानव! आत्माको कारागारसे निकालनेमें मदद दो, मानवके प्रति श्रद्धा, त्याग और मानवताको प्रगट करो" आदि।

"यही है इबादत, यही दीनो ईमाँ।
कि काम आये दुनियाँ में इनसा के इनसाँ।"

ऐतिहासिक दृष्टिसे धर्मका जन्म

ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि छानबीन की जाए तो इस बातका पता चलता है कि सदियों पहिले इस रत्नगर्भा भारत-भूमिमें नैतिकताकी आवाज़ गूंजती थी, मनुष्यके प्रति मानवताका व्यवहार करना ही धर्म समझा जाता था। नैतिक जिम्मेदारीके अनुसार ही सांसारिक कार्य चलते थे। मानव प्राणी जब दूसरोंको अपने प्रति सद्व्यवहारसे पेश आते देखता तो वह भी स्वाभाविक तौरपर अनायास ही दूसरेके प्रति प्रेम प्रकट करता, उसके न्याय्य अधिकारोंके संरक्षण व संवर्धनमें लग जाता अर्थात् द्वेष और मत्सर प्रतियोगिता तथा मुकाबलेके बदले सरलता और प्रेम तथा पारस्परिक सहायताके मार्गपर चलने लगता। किन्तु संसारकी गति सदा एकसी नहीं रही। शनैः शनैः नैतिक ज़िम्मेदारीको लोग भूलने लगे। सांसारिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होने लगी। चालाक और स्वार्थी लोग दूसरोंकी नैतिकतासे फायदा उठाने लगे और समाजके नेताओंको व्यवहारके लोप होने और अशान्तिका भयानक चित्र दिखाई देने लगा। अतएव समाजको अनीतिके गहरे कूपमें गिरनेसे बचानेके लिए, सामाजिक शासनको सुसंगठित करनेके लिए नैतिक नियमोंको ही धार्मिक रूपमें परिणत करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। इन्हीं नैतिक नियमोंको संकलित, परिवर्धित और संशोधित करके धर्मका मौलिक रूप दिया गया। पुण्य और पापकी परिभाषा इसीका परिणाम है। जब नैतिक बन्धनोंका भय जाता रहा तो प्राकृतिक तथा सामाजिक नियमोंका उल्लंघन धार्मिक दृष्टिसे अक्षम्य करार पाया! नैतिक जिम्मेदारीकी जगह अब धार्मिक जिम्मेदारी समाजका आधार व विश्व-कल्याणका प्राण बन गई। मानवके कष्टोंका अन्त करनेके लिए नैतिक सिद्धान्त-धार्मिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षाके मौलिक रूपमें बदल गए। मानवताके पुजारियोंने अखिल मानवताके लिए धर्मका दिव्यसंदेश सुनाया। भगवान महावीर भी धार्मिक आकाशके एक दैदीप्यमान नक्षत्र थे। सदियों पहलेसे ऐसे ही वीरपुरुषोंने धर्मकी शीतल धारा प्रवाहितकी। पतितोंका उद्धार करने, दलितोंको बचाने, असहायको सहायता देने, पश्चात्तापकी अग्निसे आकुलित हृदयको संतोषामृतकी वृष्टिसे बुझाने प्रमाद और निराशाको दूर करके उत्साह, उमंग और कर्मण्यताको सिखाने और उच्च नागरिक आदर्शोंको स्थापित करनेके खयालसे धर्मका जन्म हुआ। यही नहीं किन्तु धर्ममें राजनीतिका भी प्रवेश आसानीसे हो गया। धार्मिक नियंत्रणसे लौकिक व्यवहार बँध गये, विश्वमें शान्ति स्थापित हो गई, संसार स्वर्गतुल्य हो गया। किन्तु काल सदासे ही परिवर्तनशील है। रूढियोंने धर्मकी जगह ले ली। समयानुसार रूढियोंमें परिवर्तन न होनेके कारण पतनका होना अनिवार्य हो गया। मनुष्यने अपनी मनुष्यता खो दी और जीवन खतरेमें पड़ गया। धार्मिक जिम्मेदारीको भूल जानेके कारण वातावरण प्रक्षुब्ध हो उठा, अशान्तिकी लहरें एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक उठने लगीं। वर्तमान आधिभौतिक जड़वादने एक ओर शान्ति प्रस्थापित करनेके लिए भरसक प्रयत्न किया तो दूसरी ओर वासनाओंकी अग्निको और भी प्रज्वलित कर दिया। सम्प्रति भूमण्डलपर सम्पूर्ण देशोंमें परस्पर सान्निध्य और सम्पर्क संस्थापित हो जानेके कारण एकपर दूसरेकी संस्कृति, साहित्य, विचारधारा, वाणिज्य-व्यवसाय, कला आदिका प्रभाव पड़ा। विज्ञानकी जबरदस्त आँधीने जीवनकी कायापलट कर दी और सुचारु रूपसे सारे जगतको कार्यक्षम बनानेके लिये कानूनकी शरण ली। जो काम प्राचीन कालमें धार्मिक नियमों तथा संस्थाओंने किया वह अब वर्तमानकाल में राजशासन द्वारा किया जाने लगा। जहाँ नैतिक बल और धार्मिक जिम्मेदारी अपने अपने कालमें कामयाब रहे, वहाँ अब कानून द्वारा सामाजिक, वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय जीवनका नियन्त्रण किया जा रहा है। अधर्म, पाप या कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिए कई तरहके नियम बना दिये गये और इन नियमोंकी अवहेलना या उत्तरदायित्वसे च्युत होना कानूनकी दृष्टिसे सजा देनेके योग्य समझा गया। हमारे जिन कामोंसे समाजके हितसाधनमें बाधा उत्पन्न होना संभवनीय है या जिसके करनेसे स्वयं करने वालेको लज्जा या घृणा हो सके, उसे न करना ही कानूनकी दृष्टिसे योग्य समझा गया। सारांश ऐतिहासिक दृष्टिसे मानव-समाजका जीवन एक सागरकी भाँति है, इसमें रह रह कर तरङ्गें उठती रहीं, जब नीतिकी नौकाएँ डूबने लगीं तब धर्मके जहाजका आविष्कार हुआ, जब यह जहाज मंझधारमें आगया और किनारेपर पहुंचनेकी उम्मीद कम हो गई तो कानूनके बड़े बड़े जहाज विविध शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित होकर जीवन सागरको चीरनेके लिए अवतीर्ण हुए।

इस ऐतिहासिक खोजको यदि जैन साहित्यकी कसौटीपर जाँचा जाय तो उपरोक्त बातोंका बहुत बड़ी हदतक समर्थन हो जाता है। जैन साहित्यसे इस बातका पता चलता है कि भारतवर्षमें पहिले तीन कालतक भोगभूमि रही है। यहाँ सारी प्रेम, प्रीति, सुख, आनन्द आदिका साम्राज्य था। न यहां आर्थिक अड़चनें ही थीं और न किसी प्रकारकी झंझटें। किन्तु तीसरे कालके अन्तमें लोगोंको भय पैदा हुआ, अज्ञानने जोर पकड़ा, कर्तव्याकर्तव्यका भान न रहा, नैतिक बन्धन ढीले पड़ गये, कौटुम्बिक व्यवस्था-नागरिक आदर्शको शान्तिके हेतु स्थापन करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। जगतमें घोर अशान्तिके बादल मंडरा रहे थे, आकुलताका आधिपत्य हो चला था। ऐसे समयमें भगवान आदिनाथने जन्म लेकर—आवश्यकता, समय व परिस्थितिको लक्ष्यमें रखते हुए—नैतिक नियमोंका निर्माण करके धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया और भोगभूमिको कर्मभूमिमें परिणत कर दिया। धार्मिक सिद्धान्तोंकी उत्पत्ति गहरे विचारका नतीजा थी, इस लिये अब कथन और उपदेशसे इसका प्रचार होने लगा तथा इसकी सार्थकता सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत करनेसे होने लगी। यह विचारधारा नैसर्गिक स्वाभाविक तथा समयानुकूल थी। लोगोंने इसे हाथोंहाथ अपनाया। संसारकी समझमें यह बात आगई कि धर्म और अधर्मके आचरणका परिणाम क्रमशः सुख और दुख होता है। इसीसे देश और समाजकी व्यवस्था रह सकती है, संसारके लौकिक व्यवहार चल सकते हैं। इसी तरह जब जब धार्मिक नियमोंकी अवहेलनाके कारण जगतमें अनीति और अशान्ति फैल जाती,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तब तब समय ऐसे ही नररत्नों या तीर्थंकरोंको पै ा करता और इनके कारण ही जगतमें ज्ञानसूर्यकी सुनहरी किरणें अज्ञानको मिटातीं तथा लोक-मर्यादा स्थापित हो जाती।

यह बात भी विचारणीय है कि धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार हमेशा क्षत्रिय राजाओं द्वारा ही हुआ है; क्योंकि धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार राजाश्रित रहा है। देश और समाज हितके लिए अप्राकृतिक तथा अनैसर्गिक और लौकिकाचार तथा रूढियोंके विरुद्ध बातें दण्डनीय समझी गई। इन चीजोंको कानूनका रूप प्राप्त हुआ। यों तो समयकी पुकारके अनुसार धार्मिक नियमोंका पालन अच्छी दृष्टिसे देखा जाता रहा और यदा कदाचित् चन्द व्यक्ति या उनका समूह इन नियमोंकी अवहेलनाद्वारा समाज या राष्ट्र तथा देशकी व्यवस्थामें बाधा उपस्थित करता तो न सिर्फ राजदण्ड ही उसे भुगतना पड़ता बल्कि समाजकी दृष्टिसे भी वह गिर जाता। राजनीतिज्ञ पुरुषों या राजाका यह कर्तव्य था कि प्रजाको धार्मिक तथा लौकिक नियमोंको अमली जामा पहिनानेमें विवश करे तथा आवश्यकतानुसार सैनिकबलको भी काममें लावे। यही कारण है कि भारतवर्षमें उस समय शान्ति व सुव्यवस्थाका मधुर सङ्गीत सुनाई देता रहा है।

गत महासमरके अन्तमें विश्वशान्तिको सदाके लिए स्थापित करनेके खयालसे अमेरिकाके स्वनाम धन्य प्रेसिडेन्ट विल्सनने अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्को जन्म दिया और एक लंबी चौड़ी नियमावली बना दी, किन्तु उसे कार्यरूपमें, सैनिक-बलका अभाव होनेके कारण, वह परिणत न कर सका और परिणाम यह निकला कि युद्धकी ज्वाला पुनः भी धधक उठी। किन्तु भारतवर्षके प्राचीन राजनीतिज्ञोंको यह बात भलीभाँति परिचित थी कि अपनी प्रजाके हित-साधनके लिए सैनिक-शक्तिद्वारा राष्ट्र, देश, समाजके नियमों व धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार आसानीसे कराया जा सकता है।

जैनसाहित्य और कानून

भारतवर्ष की अनेक धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तिपर ही मौजूदा कानूनका आधार है। धर्मके नियमोंको तथा प्रचलित रिवाजोंको लक्ष्यमें रखकर ही (Juris Prudence) कानूनके मूलभूत तत्त्व बनाये गए हैं ऐसा खुद कानूनदानोंका खयाल है। "अन्दर की आवाज जो कुछ कहती है उसपर अमल करना जुर्म नहीं"। "कानून गाफिलों की इमदाद नहीं करता"। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचेरत्"। "हर प्राणीको खुदकी हिफाजत करनेका हक़ है"। आदि कानूनी तत्त्वोंसे उपरोक्त बातोंका ही समर्थन होता है।

किन्तु दोनों समय के इन प्रयोगों में फर्क है। प्राचीन समयमें कानूनका पालन करना कराना उनका धार्मिक और नैतिक कर्तव्य समझा जाता था। विरोधका रूप व्यावहारिक था किन्तु आजकल बल-प्रयोग द्वारा कानूनको कामयाब बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, अर्थात् अब पाशविक बल ही इसका आधार है और उन दिनों इसका आधार आत्म-कर्तव्य, नैतिक आवश्यकता, अनुशासन तथा संयम रहा है। तभी तो यत्र तत्र जैन शास्त्रों में —

"तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत्।
परदारां समां मातुः पश्यन् याति परं पदम्"।

ऐसे वाक्य मिलते हैं। दूसरोंकी वस्तुओंको घासके तिनके की तरह, परस्त्रीको माताके समान और दूसरे जीवोंको अपने समान जानो। क्या यह शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा नहीं है? क्या इसपर अमल करनेसे मनुष्य-प्राणी शान्तिको नहीं पा सकता?

धर्म और राजनीति

वैसे तो धर्म और राजनीति विपरीत विचारधाराएँ प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। प्राचीन काल में राजनीतिका प्रवेश मानव जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पाया जाता है। धर्मके प्रचारक तथा संस्थापक चतुर राजनीतिज्ञ तथा मानसशास्त्रवेत्ता थे। मानवप्राणीके स्वभावों, उनकी प्रवृत्तियों आदिका उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य किया था। जैन ग्रन्थोंमें सम्यग्दर्शन व उसके अंगोंका वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ सहधर्मीके दोषोको ढाँकना; जुलूस रथयात्रा, पूजापाठ, संघ निकालना, धार्मिक उत्सव कराना आदिके द्वारा धर्म प्रभावना करना; सहधर्मियोंसे प्रेम करना, आड़े समयमें उनकी सहायता करना, समाज संगठनका बीज बोना आदि चीजें सम्यग्दृष्टिका प्राण हैं। इन्हीं चीजोंको जैन धर्ममें सम्यग्दर्शनके अंगों अर्थात् स्थितिकरण, प्रभावना, वात्सल्य आदि नामोंसे याद किया है। इनके मूलभूत तत्त्वोंपर दृष्टि डालनेसे मालूम पड़ता है कि उन्होंने मानसविज्ञान (Psychology) के गूढ़ तत्त्वों तथा

Jain Education International   For Personal & Private Use Only   www.jainelibrary.org

राजनीति Politics), नागरिकशास्त्र (Civics आदिका गहरा अध्ययन करके मानव प्राणियोंके स्वभावों तथा प्राकृतिक नियमोंको समझकर उनको धर्ममें सन्निहित कर लिया था। यही नहीं बल्कि दुनियावी जरूरतोंपर ध्यान देकर इन आदर्शों अपितु नैतिक गुणोंको—जिनका होना एक अच्छे नागरिकके लिए अत्यन्त आवश्यक है—व्यवहारिक रूप दिया और यह चीजें लौकिक या व्यवहार धर्ममें समाविष्ट हो गईं। प्राचीन कालके आदर्श व्यक्ति अपने समयके अच्छे नागरिक कहलाये जा सकते हैं। बे-लौस होते थे, स्वार्थ उन्हें छूता नहीं था, दूसरोंसे लड़ना वे पाप समझते थे। दूसरोंकी सेवा करना, पड़ोसियोंकी सहायता व अभ्यागतों, प्रवासियों व अतिथियोंका उचित आदर करना, उन्हें भोजन देना आदि पुण्य समझा जाता था। ये चीजें उनके नित्य तथा नैमित्तिक कार्योंमें शुमार (परिगणित) की जाती थीं। ऐसे ही शुद्ध व्यक्ति राज्य-शासनके जिम्मेदार होते थे। सारांश यह कि राज्य अपने सामने उच्च आदर्श रखता था और इसीलिए वह राष्ट्र, समाज और देशकी हर प्रकारकी उन्नतिका जिम्मेदार समझा जाता था। Proj Herold Laski का बयान है कि "प्रत्येक राज्यशासन उसके नागरिकोंके चरित्रका आईना है। उसके अन्तर्गत व्यक्तियों तथा समाजके नैतिक चरित्रका प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है।" यदि इस तत्वको जैन साहित्यमें कथित पुराणों और कथाओंपर देखें तो उपरोक्त बातोंकी सत्यता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। वास्तवमें आदर्श राजनीतिज्ञों द्वारा ही सुशासन संचालित होता है। यह उत्तम नरपुंगव—जिनके हृदयोंपर अपने अनुयायियोंकी चोट होती है—वातावरणको शुद्ध करनेके लिए, फलप्राप्तिकी आशा न रखते हुए, राज्यशासन या धर्मशासनको चलाते हैं। मानवप्राणी जिस समाज या राष्ट्रमें रहता हैं उसका जीवन उसी राष्ट्रकी उन्नति या अवनतिपर निर्भर है। इसलिए राजनीतिज्ञ एवम् धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रचारक जनसाधारणके कल्याणकी भावनाको लक्ष्यमें रखते हुए बड़ी योग्यतासे शासनका रथ हाँकनेमें व्यस्त रहते हैं। 'क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतुबलवान् धार्मिको भूमिपालः' आदि पाठ इसी बातको ध्वनित करते हैं। व्यावहारिक जीवनकी कामयाबी ही उनका परमोच्च ध्येय रहता है। शायद इसी कारण ही व्यवहारधर्मको आत्मधर्म या पारलौकिक धर्मकी सिद्धि कहा गया है। इसकी सिद्धिके बगैर हम कुछ नहीं कर सकते। इस आदर्शपर ही उनकी नई दुनियाकी बुनियाद खड़ी हो सकती है। परमार्थका बीज यहीं बोया जा सकता है तथा कोई भी नागरिक त्याग, सेवा, दया, कर्तव्य आदिके नैतिक तत्त्वों द्वारा ही अपने जीवनमें स्वर्गके सुखोंका अनुभव करके विश्वकी शान्तिमें सहायक सिद्ध हो सकता है।

किन्तु आजकल अनेक देशोंके राज्यशासनने जिस वातावरणको पैदा किया है, उससे नागरिकोंको न तो उन्नति करने का मौका ही मिलता है और न विश्वकल्याण तथा शान्ति का स्वप्न ही सत्यसृष्टिमें परिणत किया जा सकता है। इस मशीनोंके युगमें इस औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रतियोगिताके दौरमें खुदगरजीको विशेष महत्व दिया गया है। स्वार्थभावनाएँ प्रदीप्त होती जा रही हैं तथा दूसरों के व्यक्तित्वको मिटानेपर राष्ट्र तुले हुये नफरत की जहरीली भावनाअधोगतिकी तरफ उन्हें ले जा रही है, शक्ति और स्वार्थका बोलबाला है और तुर्रा यह है कि प्रत्येक राष्ट्र शान्ति-स्थापनकी दुहाई दे रहा है। बेचारी जनता न तो अपने उद्धारका कोई ज्ञान रखती है और न इस मार्ग पर अग्रसर ही हो सकती है। इन राजनीतिज्ञों की कूटनीतिने ही सारे विश्वमें असन्तोष की भावना पैदा कर दी है। क्या ही अच्छा हो कि ये लोग तनिक विचारसे काम लें और सच्ची मानवता का सबूत दें :—

"कथनी मीठी खाँड सी करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करें तो विष से अमृत होय॥"

इसी तरह जो सुख-शान्तिकी स्थापनामें अनैतिक व अप्राकृतिक साधनों के अवलंबन द्वारा चिरस्थायी यश प्राप्त करना चाहते हैं, मानों वह आकाशसे फूल तोड़ कर लाने के सदृश ही हास्यास्पद विचार रखते हैं। विष से अमृतफल की आशा नहीं की जा सकती —बबूल को बोकर आम नहीं खाये जा सकते, बालूसे तेल नहीं निकाला जा सकता, जलको मथकर नवनीत नहीं निकाला जा सकता। इसी तरह हिंसात्मक उपायों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। जब हमारी नीयत ही बुरी हो तो अच्छे फलोंकी आशा रखना ही व्यर्थ है। ओल्डस हक्सलेके प्रसिद्ध, मान्य ग्रन्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Ends and means "साध्य और साधन" में इन्हीं समस्याओं पर प्रकाश डाला है। साध्य और साधनकी व्याख्या करते हुये आपने आदर्श समाज, अनासक्त मानव, और अहिंसा आदि विषयोंको जोरदार शब्दों में प्रतिपादित किया है। वे फर्माते हैं कि किसी तरह भी बुरे उपायों या साधनोंद्वारा उत्तम साध्य या ध्येयकी प्राप्ति नहीं हो सकती। "यदि हमारा ध्येय तथा आदर्श शुद्ध है तो ऊँचे आदर्श तक हमारी रसाई (पहुंच) सिर्फ पवित्र तथा शुद्धसाधनों द्वारा ही हो सकती है"। किन्तु खेद तो इस बातका है कि इस समय सारे संसारपर स्वार्थ-साधनका भूत सवार है, वह इसके परिणाम-स्वरूप वासनाओंका गुलाम बन गया है! ऐसी परिस्थितिमें मानव या राष्ट्रको विश्वकल्याणके पवित्र आदर्श में सहायक खयाल करना गलत है। जैन धर्मकी भी यही मान्यता है। वह कहता है कि अहिंसा द्वारा ही जगत्में शान्ति प्रस्थापित की जा सकती है। आत्मोद्धारकी कुंजी भी यही है। इसी मार्गका अनुसरण करके स्वाभाविक तथा असीम सुखकी प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा, सत्य, ईश्वर, धर्म, शान्ति, सुख, संतोष आदि एक ही अर्थके पर्यायवाची शब्द हैं। इन्हींकी उपासना, इन्हींका सहारा, व इन्हींका सम्पूर्ण ज्ञान ही हमारा उच्चादर्श है तथा नैतिक, व्यावहारिक, स्वाभाविक या धार्मिक कर्तव्य भी यही है। इसके सामने स्वार्थ-साधु, विषय-लोलुप, वासनाओंका पुजारी घुटने टेक देता है। इसके लिए सच्चे नागरिक, दार्शनिक या धार्मिक पुरुषको मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं, कष्ट सहन करने पड़ते हैं। यही नहीं, बल्कि आत्मोत्सर्ग द्वारा विरोधियोंके हृदय पर विजय प्राप्त करनी होती है।

जैनशास्त्रोंमें परिषह-सहन तथा उपसर्ग जीतनेका बड़ा मौलिक तथा रोचक वर्णन किया गया है। विरोधियोंको कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहना खेल नहीं है, इस तत्वमें मानस-शास्त्र (Psychology) के गूढ़ तत्वोंका अंतर्भाव है। दूसरोंके लिए कष्ट सहना जीवनका बड़ा ध्येय है। जब बीज स्वयंको नष्ट कर डालता है तब ही तो नयन-मनोहर वृक्ष उसमेंसे जन्म लेता है। हिंसा तथा असत्य या राग भावोंद्वारा वैर व मत्सर बढ़ता है। अशान्तिकी लहरें जीवन-सागरमें उठती हैं, द्वेषके बादल सिरपर मंडराने लगते हैं तथा सर्वनाशका पहाड़ सिर पर टूट पड़ता है, किन्तु परिषह-सहन काले हृदयको भी नतमस्तक बना देता है। सारा संसार ऐसे आदर्श व्यक्तिको सर आँखों पर बिठा लेता है। विरोधियोंके हृदयको शुद्ध व पवित्र कर देता है। वह पश्चात्तापकी अग्निमें बुरे भावोंको जला देता है और पवित्र अन्तःकरणसे धीर, वीर तथा अपने उपकारीका अनुयायी बन जाता है। अब वह अपने आपमें तबदीली महसूस करने लगता है और समझता है कि—

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत-वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥"
— (अमितगति)

यही धर्मका व्यावहारिक तथा सार्वभौम रूप है।

कुछ आधुनिक पाश्चिमात्य विद्वानोंका मत है कि भारतवर्ष जैसे सुसम्पन्न कृषि-प्रधान देशमें प्राचीन कालमें रोटीका सवाल ऐसा उग्र नहीं था, इसीसे अध्यात्मवाद बेकार लोगोंके दिमागकी पैदावार है। "An idle brain is satan's workshop" इसी उक्तिके अनुसार ही फुरसतके समयमें Mysticism या Spirituality का जन्म हिन्द में हुआ। किन्तु एक दूसरी विचारधारा यह भी बताती है कि यह जरूरी नहीं कि फुरसतके समयको सबलोग बरबाद ही कर देते हैं, बल्कि ललित कलाओं, ज्ञानके विविध अंगों तथा संस्कृति व सभ्यता की उन्नतिको चरम सीमापर ऐसे ही समयमें पहुंचाया जाता है। भारतवर्षके प्रकाण्ड-पण्डितोंने जो सेवाएँ साहित्य, विज्ञान, संस्कृति और कलाके सिलसिलेमें की हैं वे भुलाई नहीं जासकतीं। विश्वके इतिहासमें यह अमर गाथाएँ अंकित रहेंगी। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Max Muller) जैसे शास्त्रियोंका मत है कि इस भारतवर्षने सदियों पहिले, जब यूरोप अज्ञानकी घोर निद्रामें पड़ा हुआ था, ऐसी सभ्यताको जन्म दिया जो रहती दुनिया तक यादगार रहेगी और इस देशको यदि विश्व-गुरुके पदसे विभाषित किया जाय तो योग्य है, आदि। आर. सी. दत्त (R. C. Dutt), अलबेरूनी Alberun5) ब्राउन (Brown), कौंट जरना Count Jerna) आदि कतिपय विद्वानोंने अपने लेखों द्वारा उपरोक्त मतका ही समर्थन किया है। कहा जाता है कि आध्यात्मिक विचारवादका बीज सबसे पहिले भारतवर्ष ही में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोया गया। यहाँकी भौगोलिक, प्राकृतिक तथा मानसिक परिस्थिति इसीके अनुकूल थी। इस विचारधाराके लिए यहाँका जलवायु बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। इस वृक्षको फलते फूलते देखकर दूसरे देशोंमें भी यह बीज बोया गया, किन्तु दूसरी जगह विशुद्ध वातावरणके न मिलनेसे विशाल-काय वृक्ष नहीं होसका। मानसशास्त्रियों Psychologists तथा समाजविज्ञान (Social Science के पण्डितोंका कथन है कि बाह्य और अभ्यंतर परिस्थितियोंका प्रभाव विचार-निर्माणपर पड़ता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक विचारधारा यहीं पर बढ़ी, उसका विकास यहींके शान्त वातावरणमें हुआ। न तो यहाँ पहिले रोटीका सवाल ही था और न दूसरे भड़ंगे। फलतः इस धन-धान्यसे परिपूर्ण भूमिपर बड़े बड़े आचार्योंने साहित्य और ज्ञानकी ऐसी उपासना की कि अध्यात्मकी देवी प्रसन्न होगई। यहाँके नयनाभिराम स्वर्गोपम प्राकृतिक सौन्दर्य, शीतल तथा शान्त वातावरण, मनोहर दृश्यों और ज्ञान-पिपासा आदिने अध्यात्मवादकी गुत्थियोंको सुलझा दिया। अध्यात्मवाद भारतवर्षकी सारे विश्वको अनुपम देन है। इसकी क़दर वही कर सकता है जिसने यह मज़ा चखा है। सारे विश्वकी बीमारीका यही इलाज है। ग़ालिब साहब भी यही फरमाते हैं:—

"इश्कसे तबियतने जीस्तका मज़ा पाया।
दर्दकी दवा पाई दर्द बे-दवा पाया।"

जैनशास्त्रोंका निचोड़ भी यही अध्यात्मवाद है, किन्तु खयाल रहे कि यह निष्क्रिय नहीं है इसके लिए पुरुषार्थको अपनाना पड़ता है।

"अमलसे ज़िन्दगी बनती है, जन्नत भी, जहन्नुम भी" पारलौकिक जगतका आधार या निश्चय धर्मका आधार व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म पहिली सीढ़ी है। इसीपरसे गुज़रते हुए, ऊपरकी मंजिलपर पहुँचा जा सकता है। अध्यात्मवाद बेकारीका नतीजा नहीं, बल्कि पुरुषार्थका नतीजा है, मनुष्यमात्रकी चरमोत्तम उन्नति है।

वास्तवमें रूढियोंके प्राबल्यने धर्मके असली रूपको छिपा दिया है। अबतो केवल आत्मारहित अस्थिपंजर या कलेवरका भीषण दृश्य ही दिखाई देता है। इसी रूपको देख कर पाश्चिमात्य लोग धर्मको अव्यावहारिक समझने लगे हैं। धर्मने तो यही प्रतिपादित किया है कि दुष्टके साथ हमें नीच नहीं होना चाहिए किन्तु क्रोधको शान्तिसे, वैर भावको प्रेम तथा दयाभावसे और दुष्टको साधुतासे जीतना ही श्रेष्ठ है। धर्मकी रूढियों और बाह्य लक्षणोंको समयानुकूल बदलना पाप नहीं है। धर्मके नामपर आडम्बर, अज्ञान, अत्याचारका प्रदर्शन करना पाप है। धर्मके मूलभूत सिद्धान्त कभी नहीं बदलते। चोरी और झूठ सदा पाप ही समझे जावेंगे। दुनियाके कोने २ से इसके विरुद्ध ही आवाज उठेगी। लौकिक स्वार्थ-साधन या आत्माका विकारी रूप ही नरकका द्वार कहलाया जासकता है। मानवताका पुजारी जब पतित हो जाता है तो वह घृणित समझा जाता है। इसीको अधमाचरणका फल कहा जायेगा। अकर्मण्यता और वैराग्यमें बहुत बड़ा अन्तर है। उत्तरदायित्वसे घबराना धर्म नहीं, लंघन और फाकाकशीको तपस्या नहीं कहा गया है किन्तु लौकिक धर्मको साधन करता हुआ पुरुषार्थी जीव अपने विशेष और स्वाभाविक आदर्श मुक्तिकी तरफ बढ़ता है। वह जानता है कि "सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्"। धर्मको भूल जानेसे मनुष्य अपनी मनुष्यता को खो देता है तथा बदनामी का जीवन गुज़ारकर कालके गालमें चला जाता है। इसीलिये तो किसीने कहा है कि जगतमें आकर हमें मानवताका सबूत देना चाहिए तथा पथ-भ्रष्ट न होना चाहिए। कर्तव्यका ही दूसरा नाम धर्म है —

"जो तू आयो जगतमें जगत सराहे तोय।
ऐसी करनी कर चलो जो पाछे हँसी न होय" ॥

धर्म दो प्रकार का है। एकको मोक्ष धर्म या निश्चय धर्म कहते हैं तो दूसरेको व्यवहारधर्म या श्रावकधर्म कह सकते हैं। पहले धर्मका आदर्श विशिष्ट ध्येय या स्वाभाविक पदकी प्राप्ति है। दूसरेका आदर्श यह है कि हमें संसारमें क्या करना चाहिए व हम क्या कर सकते हैं। समाजमें हमारा स्थान क्या है? व हमें हमारे उत्तरदायित्व को किस तरह निभाना चाहिए। धर्मके दस चिन्ह बताये गये हैं — क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये ही चीज़ें मानवताकी द्योतक हैं। इनसे जब यह मानव च्युत होजाता है या अपने स्वभावको भूल जाता है तो वह न सिर्फ़ अपनी अधोगतिके अभिमुख होता है बल्कि सामाजिक जीवनमें भी बाधा डालता है। ए० ई० मैण्डर A. E.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Mander साहब अपनी पुस्तक "Psychology for Every Man Woman" में क्रोधकी प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि—"जब मनुष्य पर क्रोधका भूत सवार हो जाता है तो उसका चेहरा सुर्ख होजाता है, मुट्ठियाँ बंध जाती हैं; विचारशक्ति उसमें बाकी नहीं रहती। आँखोंसे चिनगारियां निकलती हैं और वह परिणामको सोचने के बदले मरने-मिटने पर तुल जाता है। यह उसकी अस्वाभाविक दशा है, उसका विकृत रूप है। उसकी स्वाभाविक ग्रन्थियोंमें ऐठन पैदा होजाती है। हृदयसे शकरकी मात्रा खूनकी नालीमें दौड़ जाती है और इस कारण हम किसी भयंकर बातके करनेपर उतर आते हैं। फलतः पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है। ऐसे समयमें शरीर-विज्ञानके मतानुसार एड्रेनलीन (Adrenalin) की अधिक मात्रा इतनी प्रतिक्रिया प्रारंभ करके शरीरको अपनी असली हालतमें लानेके लिए सहायक होती है। अतएव इन विद्वानों के मतानुसार मनुष्यको ऐसे अस्वाभाविक तथा अप्राकृतिक दशामें या तो किसी उद्यानमें निकल जाना चाहिये या कोई शारीरिक काममें अपने आपको व्यस्त रखना चाहिए, इसी तरह उस समय भोजन करना शरीरको हानि पहुँचाना है।" आदि

अतः इस पाश्चिमात्य मानसशास्त्रीने भी स्पष्ट रूपसे बतला दिया है कि क्रोध मनुष्य मात्रका स्वभाव नहीं है और इससे भयंकर हानि होती है, अतएव यह त्याज्य है। इसीलिए तो क्षमाको आत्माका गुण कहा गया है। इसके बराबर कोई दूसरा तप नहीं है। और न दयाहीन धर्मको धर्मके नामसे जाना जा सकता है, किन्तु उसका व्यवहार-धर्म की दृष्टिसे यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि न्यायका खून हो रहा हो; समाजकी मर्यादाका अतिक्रम हो रहा हो, लौकिक विधियोंका जबरन उल्लंघन किया जा रहा हो या खुदका फूँक फूँक कर कदम रखनेके अनन्तर भी सर्वनाश हो रहा हो तो दुर्बलताका सबूत दो या आततायियोंके आगे सर झुका दो। बल्कि ऐसे समयमें आततायियोंको शिक्षा देना, दण्ड देना या दमन-नीतिसे काम लेना भी प्राय अहिंसा तथा न्यायमार्गमें दाखिल है। यहाँ नियतका सवाल है। डाक्टर रोगियोंका इलाज करनेके लिये शस्त्र-क्रिया करता है किन्तु उसे हम किसी तरह निष्ठुर या हिंसक नहीं कह सकते। क्षमाकी उपासना बाकी सौ चिन्होंकी उपासना है। इसीका नाम भेदविज्ञान है। इसी भेदविज्ञानमय परिणतिको शास्त्र की परिभाषामें अन्तरात्मा कहा जाता है। इस पदको पा लेनेके बाद कर्तव्याकर्तव्यका प्रतिभास होता है। सांसारिक सुखों और दुखोंको वह स्थितप्रज्ञ उदासीन भावसे भुगतता है, विश्वकल्याणमें सहायक होता है। पुरुषार्थी होनेके कारण समाज या राष्ट्रकी उन्नतिमें उसका हाथ होता है। नैसर्गिक नियमों, सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक बन्धनों-का उल्लंघन करने वाला अपने कियेकी सज़ा पाता है। धार्मिक परिभाषामें इसे पाप या धर्माचरणके फलके नामसे याद करते हैं, और पाश्चिमात्य लोग प्रकृतिके खिलाफ़ बग़ावत करनेका अवश्यंभावि परिणाम कहते हैं। चाहे जो भी कह लें, दुष्कर्मोंका फल भुगतना प्राणिमात्रके लिए अनिवार्य है। व्यभिचारी या हिंसक राज्यद्वारा या समाजसे अपने कियेका दण्ड पाता है। यदि किसी देशमें यह चीज़ दण्डनीय समझी नहीं गई तो भी प्रकृति उसे बीमारीके रूपमें अवश्य दण्ड देती है। अतएव मनुष्यमात्र अपनी करतूतोंका जिम्मेदार है। उसकी उन्नति या अवनति उसीके हाथ है। जब प्राणी अवनतिके अभिमुख होता है तो उसे दर्शनशास्त्री 'बहिरात्मा' के नामसे पुकारते हैं, यह स्थिति सर्वनाशका कारण है। अन्तरात्माकी दशामें मनुष्य अपने जीवनको स्वर्गीय वातावरणमें बदल सकता है, किन्तु जिसके सामने विशेष आदर्श है वह इन तमाम बातोंसे परे अतुलनीय, असीम व अखण्ड सुखके लिए आत्मशुद्धिकी ओर अग्रसर होता है। वही पूर्ण शुद्ध व्यक्ति परमात्मा कहलवानेका हक रखता है। यही मानवताकी चरम सीमा है, यही उपादेय है। वहीं आत्मसाक्षात्कार है, सिद्धावस्था है तथा मुक्तिका कमनीयरूप है। यह अनुभवगम्य है, अन्तरात्मा पदमें इसकी परम आनन्ददायिनी झलक दिखाई दे सकती है। तर्कके घोड़े यहाँ पहुँचने नहीं पाते।—

"रहिमन बात अगमकी कहन सुननकी नाहिं।
जो जानत ते कहत नहीं कहत ते जानत नाहिं॥"

अतएव विश्व कल्याणके हेतु जगतके प्राणियोंके लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीरने जो सन्देश दिया है वह बुद्धिकी कसौटी पर अच्छी तरह उतरता है। परन्तु खेद तो इस बातका है कि आज कलकी हवा पूर्वाचार्योंके कथनको, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, कपोल-कल्पित बतलाती है। इनको कोई अच्छी चीज समूचे साहित्यमें नजर नहीं आती। किन्तु वही चीज यदि हॅकसले रसेल, मैक्समूलर, लास्की आदि पाश्चिमात्य विद्वानोंकी लेखनी द्वारा प्रतिपादित हो जाये तो हम फौरन उसपर ईमान लाते हैं। इसका अर्थ है हमने अपनी बुद्धि या अक्लको इन जैसे अनेक विद्वानोंके हाथ बेच दिया है। हम बुद्धिके गुलाम हैं। दूसरोंके नीबूमें हमें आम का स्वाद आता है, किन्तु अपनी चीज खट्टी मालूम होती है। यह हमारी बुद्धिकी बलिहारी है, हमारा अधःपात है। हाँ, एक बात इससे यह निकलती है कि दुनिया आधुनिक ढंग और मौजूदा प्रणालीके आइनेमें अपना तथा धर्मका रूप देखना चाहती है। ज्ञानकी प्यास इसी शर्बतसे बुझाना चाहती है। इसलिये समाजके प्रकाण्ड पण्डितोंको चाहिए कि वह जैनसाहित्यको आधुनिक दृष्टिकोणसे सुसम्पादित करके उसका प्रचार करें। कई संस्थाएँ आजकल सुलेखकों तथा विद्वानोंको जन्म देनेका दावा करती हैं किन्तु आम-तौरपर लकीरके फकीर ही इनके द्वारा पैदा हो रहे हैं, अतएव समयका साथ देना जरूरी है। ग्रन्थमालाओंके संचालकोंको चाहिए कि वे आजकलकी जरूरतोंको समझें। केवल भाषांतरसे काम नहीं चलेगा। खोज तथा अन्वेषणा करके गवेषणापूर्ण लेखमालाएँ प्रारम्भ कर देनी चाहिएँ। तभी साहित्यकी सच्ची उपासना होगी। क्या हम आशा कर सकते हैं कि समाजके विद्वान—साहित्यदेवताके चरणोंमें सुचारु-सुमनोंकी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करेंगे?

वनस्पति घी

उस वनस्पतिसे किसीको झगडा नहीं हो सकता जिसका अर्थ फल-फूल और पत्तियां हैं, किन्तु जब यह नाम अन्य वस्तुको दिया जाय तो उसे विष समझना चाहिये। वनस्पतिको कभी घीका नाम नहीं दिया जा सकता। यदि उससे वास्तवमें घी बन सकता है तो यह घोषित करनेके लिये मैं प्रथम आदमी हूंगा कि अब असली घीकी कोई आवश्यकता नहीं है। घी या मक्खन पशुओंके दूधसे बनता है वनस्पतिको घी और मक्खनके नामसे बेचना भारतीय जनताको धोखा देना है, यह पूर्ण रूपसे बेइमानी है।

व्यापारियोंका यह सुस्पष्ट कर्तव्य है कि वे इस प्रकारके किसी उत्पादनको घीका नाम देकर न बेचें। किसी भी सरकारको इस प्रकारके मालकी बिक्री जारी नहीं रहने देना चाहिये। आज करोड़ों भारतीयोंको न तो दूध मिल रहा है और न घी, मक्खन या मट्ठा ही। अतः अगर यहांकी मृत्यु संख्या इतनी बढ़ गई है एवं यहांके निवासी उत्साहहीन हैं तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। मनुष्य बिना दूध अथवा दूधके बने पदार्थसे जीवन नहीं धारण कर सकता। इस प्रकारसे धोखा देनेवाला भारतका शत्रु है।

—महात्मा गांधी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों ?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

'षट्खण्डागम' के उल्लिखित ६३ वें सूत्रमें 'संजद' पद है या नहीं ? इस विषयको लेकर काफी अरसेसे चर्चा चल रही है। कुछ विद्वान् उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं और उसके समर्थनमें कहते हैं कि प्रथम तो वहाँ द्रव्यका प्रकरण है, अत एव वहाँ द्रव्य-स्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका ही निरूपण है। दूसरे, षट्खण्डागममें और कहीं आगे-पीछे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता। तीसरे, वहाँ सूत्रमें 'पर्याप्त' शब्दका प्रयोग है जो द्रव्यस्त्रीका ही बोधक है। चौथे, वीरसेनस्वामीकी टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य। होता पाँचवें, यदि प्रस्तुत सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका प्ररूपक—विधायक न माना जाय और चूंकि षट्खण्डागममें ऐसा और कोई स्वतंत्र सूत्र है नहीं जो द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधान करता हो, तो दिगम्बर परम्पराके इस प्राचीनतम सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागमसे द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थान सिद्ध नहीं हो सकेंगे और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा। अतः प्रस्तुत ६३ वें सूत्रको 'संजद' पदसे रहित मानना चाहिये और उसे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधायक समझना चाहिये।

उक्त दलीलोंपर विचार—

१—षट्खण्डागमके इस प्रकरणको जब हम गौरसे देखते हैं तो वह द्रव्यका प्रकरण प्रतीत नहीं होता। मूलग्रन्थ और उसकी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख अथवा संकेत उपलब्ध नहीं है जो वहाँ द्रव्यका प्रकरण सूचित करता हो। विद्वद्वर्य पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने हालमें 'जैनबोधक' वर्ष ६२, अंक १७ और १६ में अपने दो लेखों द्वारा द्रव्यका प्रकरण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने मनुष्यगतिसम्बन्धी उन पाँचों ही—८६, ६०, ६१, ६२ ६३—सूत्रोंको द्रव्य-प्ररूपक बतलाया है। परन्तु हमें अब भी ऐसा जग भी कोई स्रोत नहीं मिलता, जिससे उसे 'द्रव्यका ही प्रकरण' समझा जा सके। हम उन पाँचों सूत्रोंको उत्थानिका-वाक्य सहित नीचे देते हैं:—

"मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजद-सम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८६॥

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥६०॥

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्सपज्जत्ता ॥६१॥

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥६२॥

तत्रैव शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥६३॥

—धवला मु० पृ० ३२६-३३२।

ऊपर उद्धृत हुए मूलसूत्रों और उनके उत्थानिका-वाक्योंसे यह जाना जाता है कि पहला (८६) और दूसरा (६०) ये दो सूत्र तो सामान्यतः मनुष्यगति—पर्याप्तकादिक भेदसे रहित (अविशेषरूपसे) सामान्य मनुष्य—के प्रतिपादक हैं। और प्रधानताको लिये हुए वर्णन करते हैं। आचार्य वीरसेनस्वामी भी यही स्वीकार करते हैं और इसीलिये वे 'मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह' (८६) तथा 'तत्र (मनुष्य-गतौ) शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह' (६०) इसप्रकार सामान्यतया ही इन सूत्रोंके मनुष्यगतिसम्बन्धी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्थानिकावाक्य रचते हैं। इसके अतिरिक्त, अगले सूत्रोंके उत्थानिकावाक्योंमें वे 'मनुष्यविशेष' पदका प्रयोग करते हैं जो खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और जिससे विदित हो जाता है कि पहले दो सूत्र तो सामान्य-मनुष्यके प्ररूपक हैं और उनसे अगले तीनों सूत्र मनुष्यविशेषके प्ररूपक हैं। अतएव ये दो (८६, ९०) सूत्र सामान्यतया मनुष्य-गतिके ही प्रतिपादक हैं, यह निर्विवाद है और यह कहनेकी ज़रूरत नहीं कि सामान्य कथन भी इष्ट विशेषमें निहित होता है—सामान्यके सभी विशेषोंमें या जिस किसी विशेषमें नहीं। तात्पर्य यह कि उक्त सूत्रोंका निरूपण संभवताकी प्रधानताको लेकर है।

तीसरा (९१), चौथा (९२), और पांचवाँ (९३) ये तीन सूत्र अवश्य मनुष्यविशेषके निरूपक हैं—मनुष्योंके चार भेदों (सामान्य मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य) मेंसे दो भेदों—मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनी—के निरूपक हैं। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीरसेन स्वामीके 'मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थ-माह', 'मानुषीषु निरूपणार्थमाह' और 'तत्रैव (मानुषीष्वेव) शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह' इन उत्थानिकावाक्योंसे भी प्रकट है। पर, द्रव्य और भावका भेद वहाँ भी नहीं है—द्रव्य और भावका भेद किये बिना ही मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यणीका निरूपण है। यदि उक्त सूत्रों या उत्थानिका वाक्योंमें 'द्रव्यपर्याप्तमनुष्य' और 'द्रव्यमनुष्यणी' जैसा पद प्रयोग होता अथवा टीकामें ही वैसा कुछ कथन होता, तो निश्चय ही 'द्रव्यप्रकरण' स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु हम देखते हैं कि वहां वैसा कुछ नहीं है। अतः यह मानना होगा कि उक्त सूत्रोंमें द्रव्यप्रकरण इष्ट नहीं है और इस लिये ९३ वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानों-का वहाँ विधान नहीं है, बल्कि सामान्यतः निरूपण है और पारिशेष्यन्यायसे भावापेक्षया निरूपण वहाँ सूत्रकार और टीकाकार दोनोंको इष्ट है और इस लिये भाव लिङ्गको लेकर मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका विवेचन समझना चाहिये। अतएव ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका प्रयोग न तो विरुद्ध है और न अनुचित है। सूत्रकार और टीकाकारकी प्ररूपणशैली उसके अस्तित्वको स्वीकार करती है।

यहां हम यह आवश्यक समझते हैं कि पं० मक्खन लालजी शास्त्रीने जो यहाँ द्रव्यप्रकरण होनेपर जोर दिया है और उसके न माननेमें जो कुछ आक्षेप एवं आपत्तियां प्रस्तुत की हैं उनपर भी विचार कर लिया जाय। अतः नीचे 'आक्षेप-परिहार' उपशीर्षकके साथ विचार किया जाता है।

आक्षेप-परिहार—

आक्षेप—यदि ९२ वां सूत्र भावस्त्रीका विधायक माना जाय—द्रव्यस्त्र का नहीं, तो पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होना आवश्यक हैं क्योंकि भावस्त्री माननेपर द्रव्यमनुष्य मानना होगा। और द्रव्य मनुष्यके चौथा गुणस्थान भी अपर्याप्त अवस्थामें हो सकता है। परन्तु इस सूत्रमें चौथा गुणस्थान नहीं बताया है केवल दो ही (पहला और दूसरा) गुणस्थान बताये गये हैं। इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि यह ९२ वां सूत्र द्रव्यस्त्रीका ही निरूपक है?

परिहार—पण्डितजीकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्यके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मर कर भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य होसकता है और इस लिये ९३ वें सूत्रकी तरह ९२ वें सूत्रको भावस्त्रीका निरूपण करनेवाला माननेपर सूत्रमें पहला, दूसरा और चौथा इन तीन गुणस्थानोंको बताना चाहिये था, केवल पहले व दूसरे इन दो ही गुणस्थानोंको नहीं? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जो द्रव्य और भाव दोनोंसे मनुष्य होगा उसमें पैदा होता है—भावसे स्त्री और द्रव्यसे मनुष्यमें नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता। जैसा पण्डितजीने समझा है, अधिकांश लोग भी यही समझते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यस्त्रियों—देव, तिर्यंच और मनुष्यद्रव्यस्त्रियोंमें ही पैदा नहीं होता, भावस्त्रियोंमें तो पैदा हो सकता है। लेकिन यह बात नहीं है, वह न द्रव्यस्त्रियोंमें पैदा होता है और न भावस्त्रियोंमें। सम्यग्दृष्टिको समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा न होनेका ही प्रतिपादन शास्त्रोंमें है। स्वामी समन्त-भद्रने 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकनपुंसकस्त्रीत्वानि' रत्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करण्डश्रावकाचारके इस श्लोकमें 'स्त्रीत्व' सामान्य (जाति) पदका प्रयोग किया है जिसके द्वारा उन्होंने यावत् स्त्रियों (स्त्रीत्वावच्छिन्न द्रव्य और भाव स्त्रियों) में पैदा न होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डितप्रवर दौलतरामजीने प्रथम नरक बिन षट्भू ज्योतिष वान भवन सब नारी' इस पद्यमें 'सब'[1] शब्द दिया है जो समस्त प्रकारकी स्त्रियोंका बोधक है। यह पद्य भी जिन पंचसंग्रहादिगत प्राचीन गाथाका भावानुवाद है उस गाथामें भी 'सव्व-इत्थीसु' पाठ दिया हुआ है। इसके अलावा, स्वामी वीरसेनने षट्खण्डागमके सूत्र ८८ की टीकामें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको लेकर एक महत्वपूर्ण शंका और समाधान प्रस्तुत किया है जो खास ध्यान देने योग्य है और जो निम्न प्रकार है:—

"बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यते इति चेत्, न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात्। **यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यते इति गृह्यताम्।**"

शंका—आयुका जिसने बन्ध कर लिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जिस प्रकार नारकियोंमें नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसी प्रकार यहाँ तिर्यंचोंमें स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि नारकियोंमें वही एक नपुंसकवेद होता है, अन्य नहीं, अतएव अगत्या उसीमें पैदा होना पड़ता है। यदि वहां नपुंसकवेदसे विशिष्ट—ऊँचा (बढ़कर) कोई दूसरा वेद होता तो उसीमें वह पैदा होता, लेकिन वहाँ नपुंसक वेदको छोड़कर अन्य कोई विशिष्ट वेद नहीं है। अतएव विवश उसीमें उत्पन्न होता है। परन्तु तिर्यंचोंमें तो स्त्रीवेदसे विशिष्ट—ऊँचा दूसरा वेद पुरुषवेद है, अतएव बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है। यह आम नियम **है कि सम्यग्दृष्टि जहां कहीं (जिस किसी गतिमें) पैदा होता है वहां विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदादिकोंमें ही पैदा होता है—उससे जघन्यमें नहीं।**

वीरसेनस्वामीके इस महत्वपूर्ण समाधानसे प्रकट है कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्य और भाव दोनोंसे विशिष्ट पुरुषवेदमें ही उत्पन्न होगा—भावसे स्त्रीवेद और द्रव्यसे पुरुषवेदमें नहीं, क्योंकि जो द्रव्य और भाव दोनोंसे पुरुषवेदी है उसकी अपेक्षा जो भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी है वह हीन एवं जघन्य है—विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला नहीं है। द्रव्य और भाव दोनोंसे जो पुरुषवेदी है वही वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला है। अतएव सम्यग्दृष्टि भावस्त्री विशिष्ट द्रव्य मनुष्य नहीं हो सकता है और इसलिये उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानकी कदापि संभावना नहीं है। यही कारण है कि कर्मसिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अपर्याप्त अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिमें चतुर्थगुणस्थानमें स्त्रीवेदका उदय नहीं बतलाया गया है। सासादन गुणस्थानमें ही उसकी व्युच्छित्ति बतला दी गई है, (देखो, कर्मकाण्ड गा० ३१२-३१३-३१६)। तात्पर्य यह कि अपर्याप्त अवस्थामें द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीमात्रके भी चौथा गुणस्थान नहीं होता है। इसीसे सूत्रकारने द्रव्य और भाव दोनों तरहकी मनुष्यनियोंके अपर्याप्त अवस्थामें पहला, दूसरा ये दो ही गुणस्थान बतलाये हैं उनमें चौथा गुणस्थान बतलाना सिद्धान्तविरुद्ध होनेके कारण उन्हें इष्ट नहीं था। अतः ९२ वें सूत्रकी वर्तमान-स्थितिमें कोई भी आपत्ति नहीं है। पण्डितजीने अपनी उपर्युक्त मान्यताको जैनबोधकके ६ १वें अंकमें भी दुहराते हुए लिखा है:—"यदि यह ९२ वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो अपर्याप्त अवस्थामें भी तीन गुणस्थान होने चाहियें। क्योंकि भावस्त्री (द्रव्यमनुष्य) के असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है।" परन्तु उपरोक्त विवेचनसे प्रकट है कि पण्डितजीकी यह मान्यता आपत्ति एवं भ्रमपूर्ण है।

---

[1] 'षंढ' शब्दका संशोधन ठीक नहीं है। प्रो० प्रतियोंमें 'सब' शब्द ही उपलब्ध होता है। यथा-

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
बारस मिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ॥
—पंचसं० १-१९३।

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥
—धवला मु० १ ली पु० पृ० २०९।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥
—गोम्मटसार जीवकाँड गा० १२७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं होता है, यह ऊपर बतला दिया गया है। और गोम्मटसार जीवकाण्डकी निम्न गाथासे भी स्पष्टतः प्रकट है:—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण- सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥
गा० १२७ ॥

अर्थात् 'द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ। इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता। भावार्थ—सम्यक्त्व सहित-जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता।' आपने 'भावस्त्रीके असंयतसम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है और हो सकता है।' इस अनिश्चित बातको सिद्ध करनेके लिये कोई भी आगम प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यदि हो, तो बतलाना चाहिये, परन्तु अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान बतलानेवाला कोई भी आगम प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

आक्षेप—जब ९२ वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका निरूपक है तब उससे आगेका ९३ वां सूत्र भी द्रव्यस्त्रीका निरूपक है। पहला ९२ वाँ सूत्र अपर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, दूसरा ९३ वाँ पर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, इतना ही भेद है। बाकी दोनों सूत्र द्रव्यस्त्रीके विधायक हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि अपर्याप्त अवस्थाका विधायक ९२ वां सूत्र तो द्रव्यस्त्रीका विधायक हो और उससे लगा हुआ ९३ वाँ सूत्र पर्याप्त अवस्थाका भावस्त्रीका मान लिया जाय?

परिहार—ऊपर बताया जा चुका है कि ९२ वाँ सूत्र 'पारिशेष्य' न्यायसे स्त्रीवेदी भावस्त्रीकी अपेक्षासे है और ९३ वां सूत्र भावस्त्रीकी अपेक्षासे है ही। अतएव उक्त आक्षेप पैदा नहीं हो सकता है।

आक्षेप—जैसे ९३ वें सूत्रको भावस्त्रीका विधायक मानकर उसमें 'संजद' पद जोड़ते हो, उसी प्रकार ९२ वें सूत्रमें भी भावस्त्रीका प्रकरण मानकर उसमें भी असंयत (असंजद-ठाणे) यह पद जोड़ना पड़ेगा। बिना उसके जोड़े भावस्त्रीका प्रकरण सिद्ध नहीं हो सकता?

परिहार—यह आक्षेप सर्वथा असंगत है। हम ऊपर कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियोंमें भी पैदा नहीं होता, तब वहां सूत्रमें 'असंजद-ठाणे' पदके जोड़ने व होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रीवेदकर्मको लेकर वर्णन होनेसे भावस्त्रीका प्रकरण तो सुतरां सिद्ध हो जाता है।

आक्षेप—यदि ८९, ९०, ९१ सूत्रोंको भाववेदी पुरुषके मानोगे तो वैसी अवस्थामें ८९ वें सूत्रमें 'असंजद सम्माइट्ठि-ट्ठाणे' यह पद है उसे हटा देना होगा; क्योंकि भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्री भी हो सकता है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है उसे भी हटा देना होगा। कारण, भाववेदी पुरुष और द्रव्यस्त्रीके संयत गुणस्थान नहीं हो सकता है। इस लिये यह मानना होगा कि उक्त तीनों सूत्र द्रव्यमनुष्यके ही विधायक हैं, भाव-मनुष्यके नहीं?

परिहार—पण्डितजीने इस आक्षेपद्वारा जो आपत्तियाँ बतलाई हैं वे यदि गम्भीर विचारके साथ प्रस्तुत की गई होतीं तो पण्डितजी उक्त परिणामपर न पहुँचते। मान लीजिये कि ८९ वें सूत्रमें जो 'असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे' पद निहित है वह उसमें नहीं है तो जो भाव और द्रव्य दोनोंसे मनुष्य (पुरुष) है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान कौनसे सूत्रसे प्रतिपादित होगा? इसीप्रकार मान लीजिये कि ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्ठाणे' पद है वह उसमें नहीं है तो जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे ही पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामें १४ गुणस्थानोंका उपपादन कौनसे सूत्रसे करेंगे? अतएव यह मानना होगा कि ८९ वां सूत्र उत्कृष्टतासे जो भाव और द्रव्य दोनोंसे ही मनुष्य (पुरुष) है, उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानका प्रतिपादक है और ९० वाँ सूत्र, जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे पुरुष है अथवा केवल द्रव्यवेदसे पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्था में १४ गुणस्थानोंका प्रतिपादक है। ये दोनों सूत्र विषयकी उत्कृष्ट मर्यादा अथवा प्रधानताके प्रतिपादक हैं, यह नहीं भूलना चाहिये और इस लिये प्रस्तुत सूत्रोंको भावप्रकरणके माननेमें जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे ठीक नहीं हैं। सर्वत्र 'इष्टसम्प्रत्यय' न्यायसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन एवं प्रतिपादन किया जाता है। साथमें जो विषय-की प्रधानताको लेकर वर्णन हो उसे सब जगह सम्बन्धित नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह कि ८६ वाँ सूत्र भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भाव और द्रव्य मनुष्यकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार ९० वाँ सूत्र भाववेदी पुरुष और द्रव्यवेदी पुरुष तथा गौणरूपसे केवल द्रव्यवेदी पुरुषकी अपेक्षासे है और चूंकि यह सूत्र पर्याप्त अवस्थाका है इस लिये जिस प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्य और भाव पुरुषों तथा स्त्रियोंके चौथा गुणस्थान संभव है उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्यवेदसे तथा भाववेदसे पुरुष और केवल द्रव्यवेदी पुरुषके १४ गुणस्थान इस सूत्रमें वर्णित किये गये हैं।

इस तरह पण्डितजीने द्रव्यप्रकरण सिद्ध करनेके लिये जो भावप्रकरण-मान्यतामें आपत्तियां उपस्थित की हैं उनका ऊपर सयुक्तिक परिहार हो जाता है। अतः पहली दलील द्रव्य–प्रकरणको नहीं साधती। और इस लिये ९३ वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका विधायक न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधायक है। अतएव ९३ सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध नहीं है।

ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि षट्खण्डागमका प्रस्तुत प्रकरण द्रव्य-प्रकरण नहीं है, भाव-प्रकरण है। अब दूसरी आदि-शेष दलीलोंपर विचार किया जाता है।

२—यद्यपि षट्खण्डागममें अन्यत्र कहीं द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस कारण प्रस्तुत ९३ वां सूत्र ही द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधायक एवं प्रतिपादक है। क्योंकि उसके लिये स्वतंत्र ही हेतु और प्रमाणोंकी जरूरत है, जो अब तक प्राप्त नहीं हैं और जो प्राप्त हैं वे निराबाध और सोपपत्ति नहीं हैं और विचारकोटिमें हैं—उन्हींपर यहाँ विचार चल रहा है। अतः प्रस्तुत दूसरी दलील ९३ वें सूत्रमें 'संजद'पदकी अस्थितिकी स्वतंत्र साधक प्रमाण नहीं है।

हाँ, विद्वानोंके लिये यह विचारणीय अवश्य है कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके पांच गुणस्थानोंका प्रतिपादन क्यों उपलब्ध नहीं होता? मेरे विचारसे इसके दो समाधान हो सकते हैं और जो बहुत कुछ संगत और ठीक प्रतीत होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

(क) जिस कालमें षट्खण्डागमकी रचना हुई है उस कालकी—अर्थात् करीब दो हजार वर्ष पूर्वकी अन्तः-साम्प्रदायिक स्थितिको देखना चाहिये। जहां तक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया जाता है उससे प्रतीत होता है कि उस समय अन्तःसाम्प्रदायिक स्थितिका यद्यपि जन्म हो चुका था परन्तु उसमें पक्ष और तीव्रता नहीं आई थी। कहा जाता है कि भगवान महावीरके निर्वाणके कुछ ही काल बाद अनुयायिसाधुओंमें थोड़ा थोड़ा मत-भेद शुरू हो गया था और संघभेद होना प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वीरनिर्वाणकी सातवीं सदी तक अर्थात् ईसाकी पहली शताब्दीके प्रारम्भ तक मत-भेद और संघ-भेदमें कट्टरता नहीं आई थी। अतः कुछ विचारभेदको छोड़कर प्रायः जैनपरम्पराकी एक ही धारा (अचेल) उस वक्त तक बहती चली आरही थी और इसलिये उस समय षट्खण्डागमके रचयिताको षट्खण्डागममें यह निबद्ध करना या जुदे परके बतलाना आवश्यक न था कि द्रव्य-स्त्रियोंके पाँच गुणस्थान होते हैं उनके छठे आदि नहीं होते। क्योंकि प्रकट था कि मुक्ति अचेल अवस्थासे होती है और द्रव्य मनुष्यनियां अचेल नहीं होतीं—वे सचेल ही रहती हैं। अतएव सुतरां उनके सचेल रहनेके कारण पांच ही गुणस्थान सुसिद्ध हैं। यही कारण है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीने भी यही नतीजा और हेतु-प्रतिपादन उक्त ९३ वें सूत्रकी टीकामें प्रस्तुत किये हैं और राजवार्तिककार अकलङ्कदेवने भी बतलाये हैं।

ज्ञात होता है कि वीर निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके पश्चात् कुछ साधुओं द्वारा कालके दुष्प्रभाव आदिसे वस्त्रग्रहणपर जोर दिया जाने लगा था, लेकिन उन्हें इसका समर्थन आगमवाक्योंसे करना आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना बहुजनसम्मत प्रचार असम्भव था। इसके लिये उन्हें एक आगमवाक्यका संकेत मिल गया वह था साधुओंकी २२ परिषहोंमें आया हुआ 'अचेल' शब्द। इस शब्दके आधारसे अनुदरा कन्याकी तरह 'ईषद् चेलः अचेलः' अल्पचेल अर्थ करके वस्त्रग्रहणका समर्थन किया और उसे आगमसे भी विहित बतलाया। इस समयसे ही वस्तुतः स्पष्ट रूपमें भगवान महावीरकी अचेल परम्पराकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा चेलरहित—दिगम्बर और अल्पचेल—श्वेताम्बर ये दो धारायें बन गईं प्रतीत होती हैं। यह इस बातसे भी सिद्ध है कि इसी समयके लगभग हुए आचार्य उमास्वातिने भगवान महावीरकी परम्पराको सर्वथा चेलरहित ही बतलानेके लिये यह जोरदार और स्पष्ट प्रयत्न किया कि 'अचेल' शब्द का अर्थ अल्पचैल नहीं किया जाना चाहिये—उसका तो नग्नता—सर्वथा चेलरहितता ही सीधासादा अर्थ करना चाहिए और यह ही भगवान महावीरकी परम्परा है। इस बातका उन्होंने केवल मौखिक ही कथन नहीं किया, किन्तु अपनी महत्वपूर्ण उभय-परम्परा सम्मत सुप्रसिद्ध रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' में बाईस परीषहोंके अन्तर्गत अचेल परिषहको, जो अब तक दोनों परम्पराओंके शास्त्रोंमें इसी नामसे ख्यात चली आई, 'नाग्न्य परीषह' के नामसे ही उल्लेखित करके लिखित भी कथन किया और अचेल शब्दको भ्रष्ट और भ्रान्तिकारक जानकर छोड़ दिया। क्योंकि उस शब्दकी खींचतान दोनों तरफ होने लगी और उसपरसे अपना इष्ट अर्थ फलित किया जाने लगा। हमारा विचार है कि इस विवाद और भ्रान्तिको मिटानेके लिये ही उन्होंने स्पष्टार्थक और अभ्रान्त अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। अन्यथा, कोई कारण नहीं कि 'अचेल' शब्दके स्थानमें 'नाग्न्य' शब्दका परिवर्तन किया जाता जो कि अबतक नहीं था। अतएव आ० उमास्वातिका यह विशुद्ध प्रयत्न ऐतिहासिकोंके लिये इतिहासकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। इससे प्रकट है कि आरम्भिक मूल परम्परा अचेल—दिगम्बर रही और स्त्रीके अचेल न होनेके कारण उसके पांच ही गुणस्थान सम्भव हैं, इससे आगेके छठे आदि नहीं।

जान पड़ता है कि साधुओंमें जब वस्त्र-ग्रहण चल पड़ा तो स्त्रीमुक्तिका भी समर्थन किया जाने लगा; क्योंकि उनकी सचेलता उनकी मुक्तिमें बाधक थी। वस्त्र-ग्रहणके बाद पुरुष अथवा स्त्री किसीके लिये भी सचेलता बाधक नहीं रही। यही कारण है कि आद्य जैन साहित्यमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन अथवा निषेध प्राप्त नहीं होता। अतः सिद्ध है कि सूत्रकारको द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका बतलाना उस समय आवश्यक ही न था और इसलिये षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान अनुपलब्ध है।

(ख) यह पहले कहा जा चुका है कि षट्खण्डागमका समस्त वर्णन भावकी अपेक्षासे है। अतएव उसमें द्रव्यवेदविषयक वर्णन अनुपलब्ध है। अभी हालमें इस लेखको लिखते समय विद्वद्वर्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका जैनबोधकमें प्रकाशित लेख पढ़नेको मिला। उसमें उन्होंने खुद्दाबन्धके उल्लेखके आधारपर यह बतलाया है कि षट्खण्डागम भरमें समस्त कथन भाववेदकी प्रधानतासे किया गया है। अतएव वहां यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके लिये गुणस्थान विधायक सूत्र क्यों नहीं आया? उन्होंने बतलाया है कि 'षट्खण्डागमकी रचनाके समय द्रव्यवेद और भाववेद ये वेदके दो भेद ही नहीं थे उस समय तो सिर्फ भाववेद वर्णनमें लिया जाता था। षट्खण्डागमको तो जाने दीजिये जीवकाण्डमें भी द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता और इसलिये यह मानना चाहिये कि मूल ग्रन्थोंमें भाववेदकी अपेक्षासे ही विवेचन किया जाता रहा, इस लिये मूल ग्रन्थों अथवा सूत्रग्रन्थोंमें द्रव्यवेदकी अपेक्षा विवेचन नहीं मिलता है। हाँ, चारित्रग्रन्थोंमें मिलता है सो वह ठीक ही है। जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध मुख्यतया चरणानुयोगसे है उनका समाधान वहीं मिलेगा, करणानुयोगमें नहीं।' पण्डितजीका यह सप्रमाण प्रतिपादन युक्तियुक्त है। दूसरी बात यह है कि केवली षट्खण्डागमपरसे ही स्त्रीमुक्ति निषेधकी दिगम्बर मान्यताको कण्ठतः प्रतिपादित होना आवश्यक हो तो सर्वथावस्त्रत्याग और कवलाहारनिषेधकी दिगम्बर मान्यताओंको भी उससे कण्ठतः प्रतिपादित होना चाहिये। इसके अलावा, सूत्रोंमें २२ परिषहोंका वर्णन भी दिखाना चाहिये। क्या कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी तरह षट्खण्डागमसूत्रकारने भी उक्त परीषहोंके प्रतिपादक सूत्र क्यों नहीं रचे? इससे जान पड़ता है कि विषय-निरूपणका संकोच-विस्तार सूत्रकारकी दृष्टि या विवेचनशैलीपर निर्भर है। अतः षट्खण्डागममें भाववेद विवक्षित होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता।

३—तीसरी दलीलका उत्तर यह है कि 'पर्याप्त' शब्दके प्रयोगसे वहाँ उसका द्रव्य अर्थ बतलाना सर्वथा भूल है। पर्याप्तकर्म जीवविपाकी प्रकृति है और उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदय होनेपर जीव पर्याप्तक कहा जाता है। अतः उसका भाव भी अर्थ है। दूसरे, वीरसेन स्वामीके विभिन्न विवेचनों और अकलङ्कदेवके राजवार्त्तिकगत प्रतिपादनसे पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोंका निरूपण होनेसे वहाँ 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ द्रव्य नहीं लिया जासकता है और इसलिये 'रज्जत्तमणुस्सिणी' से द्रव्यस्त्रीका बोध करना महान् सैद्धान्तिक भूल है। मैं इस सम्बन्धमें अपने "संजद पदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत" शीर्षक लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

४—हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि 'संजद' पदके विरोधमें यह कैसे कहा जाता है कि 'वीरसेन स्वामीकी टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता।' क्योंकि टीका दिनकर-प्रकाशकी तरह 'संजद' पदका समर्थन करती है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो टीकागत समस्त शंका-समाधान निराधार प्रतीत होगा। मैं यहाँ टीकागत उन पद-वाक्यादिकोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे 'संजद' पदका अभाव प्रतीत नहीं होता, बल्कि उसका समर्थन स्पष्टतः जाना जाता है। यथा—

'हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते, इति चेत्; नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्, इति चेत्, न; सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्धः, इति चेत्, न, तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेत्, न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साऽऽराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्ति, इति चेत्, न, तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।'

यहाँ सबसे पहले यह शंका उपस्थित की गई है कि यद्यपि स्त्रियों (द्रव्य और भाव दोनों) में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं। लेकिन हुण्डावसर्पिणी (आपवादिककाल)में स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते? (इस शंकासे यह प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीके सामने कुछ लोगोंकी हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होनेकी मान्यता रही और इसलिये इस शंका द्वारा उनका मत उपस्थित करके उसका उन्होंने निराकरण किया है। इसी प्रकारसे उन्होंने आगे द्रव्यस्त्री मुक्तिकी मान्यताको भी उपस्थित किया है जो सूत्रकारके सामने नहीं थी और उनके सामने प्रचलित थी और जिसका उन्होंने निराकरण किया है। हुण्डावसर्पिणीकालका स्वरूप ही यह है कि जिसमें अनहोनी बातें हो जायें, जैसे तीर्थंकरके पुत्रीका होना, चक्रवर्तीका अपमान होना आदि। और इसलिये उक्त शंकाका उपस्थित होना असम्भव नहीं है।) वीरसेन स्वामी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि **हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते।** इसपर प्रश्न हुआ कि इसमें प्रमाण क्या है? अर्थात् यह कैसे जाना कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते? इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसी आगम-सूत्रवाक्यसे उक्त बात जानी जाती है। अर्थात् प्रस्तुत ९३ वें सूत्रमें पर्याप्त मनुष्यनीके ही चौथा गुणस्थान प्रतिपादित किया है, अपर्याप्त मनुष्यनीके नहीं, इससे साफ जाहिर है कि सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कालमें द्रव्य और भाव दोनों ही तरहकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होते। अतएव सुतरां सिद्ध है कि हुण्डावसर्पिणीमें भी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि पैदा नहीं होते।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने टीकोक्त 'स्त्रीषु' पदका द्रव्यस्त्री अर्थ करके एक और मोटी भूल की है। 'स्त्रीषु' पदका बिल्कुल सीधा सादा अर्थ है और वह है—'स्त्रियोंमें'। वहाँ द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी स्त्रियोंका ग्रहण है। यदि केवल द्रव्यस्त्रियोंका ग्रहण इष्ट होता तो वीरसेन स्वामी अगले 'द्रव्यस्त्रीणां' पदकी तरह यहाँ भी 'द्रव्यस्त्रीषु' पदका प्रयोग करते और जिससे सिद्धान्तविरोध अनिवार्य था, क्योंकि उससे द्रव्यस्त्रियोंमें ही सम्यग्दृष्टियोंके उत्पन्न न होनेकी बात सिद्ध होती, भावस्त्रियोंमें नहीं। किन्तु वे ऐसा सिद्धान्तविरुद्ध असंगत कथन कदापि नहीं कर सकते थे और इसी लिये उन्होंने 'द्रव्यस्त्रीषु' पदका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग न करके 'स्त्रीषु' पदका प्रयोग किया है जो सर्वथा सिद्धान्ताविरुद्ध और संगत है। यह स्मरण रहे कि सिद्धान्तमें भावस्त्रीमुक्ति तो इष्ट है, द्रव्यस्त्रीमुक्ति इष्ट नहीं है किंतु सम्यग्दृष्टि-उत्पत्ति-निषेध द्रव्य और भावस्त्री दोनोंमें ही इष्ट है। अतः पंडितजीका यह लिखना कि ६३वें सूत्रमें पर्याप्त-अवस्थामें ही जब द्रव्यस्त्रीके चौथा गुणस्थान सूत्रकारने बताया है तब टीकाकारने यह शंका उठाई है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि क्या उत्पन्न नहीं होते हैं? उत्तरमें कहा गया है कि द्रव्यस्त्रीपर्यायमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? इसके लिये आर्ष प्रमाण बतलाया है। अर्थात् आगममें ऐसा ही बताया है कि द्रव्य-स्त्रीपर्यायमें सम्यग्दृष्टि नहीं जाता है"। "यदि ६३ वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो फिर सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता, यह शंका उठाई ही नहीं जा सकती क्योंकि भावस्त्री के तो सम्यग्दर्शन होता ही है। परन्तु द्रव्यस्त्रीके लिये शंका उठाई है। अतः द्रव्यस्त्रीका ही विधायक ६३ वाँ सूत्र है'। यह बात स्पष्ट हो जाती है।" बहुत ही स्खलित और भूलोंसे भरा हुआ है। 'संजद' पदके विरोधी विद्वान् क्या उक्त विवेचनसे सहमत हैं? यदि नहीं, तो उन्होंने अन्य लेखोंकी तरह उक्त विवेचनका प्रतिवाद क्यों नहीं किया? मुझे आश्चर्य है कि श्री पं. वर्धमानजीजैसे विचारक तटस्थ विद्वान् पक्षमें कैसे बह गये और उसका पोषण करने लगे? पं० मक्खनलालजीकी भूलोंका आधार भावस्त्रीमें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको मानना है जो सर्वथा सिद्धान्तके विरुद्ध है। सम्यग्दृष्टि न द्रव्यस्त्रीमें पैदा होता है और न भावस्त्रीमें यह हम पहले विस्तारसे सप्रमाण बतला आये हैं। आशा है पंडितजी अपनी भूलका संशोधन कर लेंगे। और तब वे प्रस्तुत ६३ वें सूत्रको भावस्त्री विधायक ही समझेंगे।

दूसरी शंका यह उपस्थित की गई है कि यदि इसी आर्ष (प्रस्तुत आगमसूत्र) से यह जाना जाता है कि हुण्डा-वसर्पिणीमें [स्त्रि]योंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते तो इसी आर्ष (प्रस्तुत आगम सूत्र) से द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्ति सिद्ध हो जाय, यह तो जाना जाता है? शंकाकारके सामने ६३ वाँ सूत्र 'संजद' पदसे युक्त है और उसमें द्रव्य अथवा भावका स्पष्ट उल्लेख न होनेसे उसे प्रस्तुत शंका उत्पन्न हुई है। वह समझ रहा है कि ६३ वें सूत्रमें 'संजद' पदके होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध होता है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो, पाँच ही गुणस्थान प्रतिपादित हों तो यह द्रव्यस्त्रीमुक्ति-विषयक इस प्रकारकी शंका, जो इस सूत्रपरसे हुई है, कदापि नहीं हो सकती। इस शंकाका वीरसेन स्वामी उत्तर देते हैं कि यदि एसी शंका करो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेसे पंचम अप्रत्याख्यान (संयमासंयम) गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। इस उत्तरसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि सूत्रमें यदि पाँच ही गुणस्थानोंका विधान होता तो वीरसेनस्वामी द्रव्यस्त्रीमुक्तिका प्रस्तुत 'सवस्त्र' हेतुद्वारा निराकरण न करते, उसी सूत्रको ही उपस्थित करते तथा उत्तर देते कि 'द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इसी आगमसूत्रसे उसका निषेध है। अर्थात् प्रस्तुत ६३ वें सूत्रमें आदिके पाँच ही गुणस्थान द्रव्यस्त्रियोंके बत-लाये हैं छठे आदि नहीं।' वीरसेनस्वामीकी यह विशेषता है कि जब तक किसी बातका साधक आगम प्रमाण रहता है तो पहले वे उसे ही उपस्थित करते हैं, हेतुको नहीं, अथवा उसे पीछे आगमके समर्थनमें करते हैं।

शंकाकार फिर कहता है कि द्रव्यस्त्रियोंके भले ही द्रव्यसंयम न बने भावसंयम तो उनके सवस्त्र रहनेपर भी बन सकता है उसका कोई विरोध नहीं है? इसका वे पुनः उत्तर देते हैं कि नहीं, द्रव्यस्त्रियोंके भावासंयम है—भावसंयम नहीं, क्योंकि भावासंयमका अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण भावासंयमके बिना नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यस्त्रियोंके वस्त्रादि ग्रहण होनेसे ही यह प्रतीत होता है कि उनके भावसंयम भी नहीं है—भावासंयम ही है, क्योंकि वह उसका कारण है। वह फिर शंका करता है—'फिर उनमें चउदह गुणस्थान कैसे प्रतिपादित किये हैं? अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमें 'संजद' शब्दका प्रयोग क्यों किया है? इसका वीरसेनस्वामी समाधान करते हैं कि नहीं, भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिमें उक्त चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व प्रति-पादित किया है। अर्थात् ६३ वें सूत्रमें जो 'संजद' शब्द है वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं। (इस शंका-समाधानसे तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ६३ वें सूत्रमें 'संजद' पद है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका बोधक है। और इसी लिये वीरसेनस्वामीने उसकी उपपत्ति एवं संगति भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे बैठाई है, जैसी कि राजवार्तिककार अकलंकदेवने अपने राजवार्त्तिकमें बैठाई है। यदि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो ऐसी न तो शंका उठती और न उक्त प्रकारसे उसका समाधान होता। दोनोंका रूप भिन्न ही होता। अर्थात् प्रस्तुत सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके ही ५ गुणस्थानों का विधायक हो और उनकी मुक्तिका निषेधक हो तो "अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्" ऐसी शंका कदापि न उठती, बल्कि 'द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः कथं न भवति" इस प्रकारसे शंका उठती और उस दशामें 'अस्मादेव आर्षाद्' और 'निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्' ये शब्द भूल करके भी प्रयुक्त न किये जाते। अतः इन शब्दोंके प्रयोगसे भी स्पष्ट है कि ९३ वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधान है और वह 'संजद' पदके प्रयोगद्वारा अभिहित है। और यह तो माना ही नहीं जा सकता है कि उपर्युक्त टीकामें चउदह गुणस्थानोंका जो उल्लेख है वह किसी दूसरे प्रकरणके सूत्र से सम्बद्ध है क्योंकि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्' शब्दों द्वारा उसका सम्बन्ध प्रकृत सूत्रसे ही है, यह सुदृढ) है।

शंकाकार फिर शंका उठाता है कि भाववेद तो बादरकषाय (नौवें गुणस्थान) से आगे नहीं है और इस लिये भावस्त्रीमनुष्यगतिमें चउदह गुणस्थानोंका संभव नहीं है? इसका वे उत्तर देते हैं कि 'नहीं, यहाँ योगमार्गणासम्बन्धी गतिप्रकरणमें वेदकी प्रधानता नहीं है किन्तु गतिकी प्रधानता है और वह शीघ्र नष्ट नहीं होती—मनुष्यगतिकर्मका उदय तथा सत्त्व चउदहवें गुणस्थान तक रहता है और इसलिये उसकी अपेक्षा भावस्त्रीके चउदह गुणस्थान उपपन्न हैं। इसपर पुनः शंका उठी कि 'वेदविशिष्ट मनुष्यगतिमें वे चउदह गुणस्थान संभव नहीं है?' इसका समाधान किया कि 'नहीं, वेदरूप विशेषण यद्यपि (नौवें गुणस्थानमें) नष्ट हो जाता है फिर भी उपचारसे उक्त व्यपदेशको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें, जो चउदहवें गुणस्थान तक रहती है, चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व विरुद्ध नहीं है।' इस सब शंका-समाधानसे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि टीकाद्वारा ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका निःसन्देह समर्थन है और वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं।

पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने टीकागत उल्लिखित स्थलका कुछ आशय और दिया है लेकिन वे यहाँ भी स्खलित हुए हैं। आप लिखते हैं:—'अब आगेकी टीकाका आशय समझ लीजिये, आगे यह शंका उठाई है कि इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या? उत्तरमें टीकाकार आचार्य वीरसेन कहते हैं कि नहीं, इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' यहाँ पण्डितजीने जो 'इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या?' और 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' लिखा है वह 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत् इति चेत् न; सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।' इन वाक्योंका आशय कैसे निकला? इनका सीधा आशय तो यह है कि इसी आगमसूत्रसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध हो जाय? इसका उत्तर दिया गया कि 'नहीं, क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेके कारण पंचम अप्रत्याख्यान गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। परन्तु पण्डितजीने 'क्या' तथा 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकता है।' शब्दोंको जोड़कर शंका और उसका उत्तर दोनों ही सर्वथा बदल दिये हैं। टीकाके उन दोनों वाक्योंमें न तो ऐसी शंका है कि 'इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या?' और न उसका ऐसा उत्तर है कि 'इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है।' यदि इसी आगमसूत्रमें द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध प्रतिपादित होता तो वीरसेनस्वामी 'सवासस्त्वात्' हेतु नहीं देते, उसी आगमसूत्रको ही प्रस्तुत करते, जैसा कि सम्यग्दृष्टि स्त्रियोंमें उत्पत्तिनिषेधमें उन्होंने आगमको ही प्रस्तुत किया है, हेतुको नहीं। अतएव पंडितजीका यह लिखना भी सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि 'यदि ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद होता तो आचार्य वीरसेन इस प्रकार टीका नहीं करते कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है।' क्योंकि वीरसेन स्वामीने यह कहीं भी नहीं लिखा कि 'इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होता है।' पण्डित जीसे अनुरोध करूँगा कि वे ऐसे ग़लत आशय कदापि निकालनेकी कृपा न करें।

पण्डितजीका यह लिखना भी संगत नहीं है कि वीरसेनस्वामीने 'संयम'पदका अपनी टीकामें थोड़ा भी जिकर नहीं किया। यदि सूत्रमें 'संयम' पद होता तो यहाँ संयम' पद दिया गया है वह किस अपेक्षासे है? इससे द्रव्यस्त्रीके संयम सिद्ध हो सकेगा क्या? आदि शंका भी वे अवश्य उठाते और समाधान करते।'

हम पण्डितजीसे पूछते हैं कि 'संयम' पदका क्या अर्थ है? यदि छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका ग्रहण उसका अर्थ है तो उनका टीकामें स्पष्ट तो उल्लेख है। यदि द्रव्य-स्त्रियोंके द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों ही नहीं बनते हैं तब उनमें चउदह गुणस्थान कैसे बतलाये? नहीं भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिकी अपेक्षासे इनका सत्त्व बतलाया गया है—'कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्'—यह क्या है? आपकी उपर्युक्त शंका और समाधान ही तो है। शंकाकार समझ रहा है कि प्रस्तुत सूत्रमें जो 'संजद' पद है वह द्रव्यस्त्रियोंके लिये आया है और उसके द्वारा छठेसे चउदह तकके गुणस्थान उनके बतलाये गये हैं। वीरसेन स्वामी उसको इस शंकाका उत्तर देते हैं कि चउदह गुणस्थान भावस्त्रीकी अपेक्षासे बताये गये हैं, द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं। इससे साफ है कि सूत्रमें संजद' पद दिया हुआ है और वह भावस्त्रीकी अपेक्षासे है।

पण्डितजीने आगे चलकर एक बात और विचित्र लिखी है कि प्रस्तुत सूत्रकी टीकामें जो चउदह गुणस्थानों और भाववेद आदिका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध इस सूत्रसे नहीं है—अन्य सूत्रोंसे है—इसी सिद्धान्तशास्त्रमें जगह जगह ६ और १४ गुणस्थान बतलाये गये हैं। किन्तु पण्डितजी यदि गम्भीरतासे 'अस्मादेव आर्षाद्' इत्यादि वाक्योंपर गौर करते तो वे उक्त बात न लिखते। यह एक साधारण विवेकी भी जान सकता है कि यदि दूसरी जगहों में उल्लिखित गुणस्थानोंकी संगति यहाँ बैठाई गई होती तो 'अस्मादेव आर्षाद्' वाक्य कदापि न लिखा जाता, क्योंकि आपके मतसे प्रस्तुत सूत्रमें उक्त चउदह गुणस्थानों या संजद' पदका उल्लेख नहीं है। जब सूत्रमें 'संजद' पद है और उसके द्वारा चउदह गुणस्थानोंका संकेत (निर्देश) है तभी यहाँ द्रव्यस्त्री मुक्तिविषयक शंका पैदा हुई है और उसका यहीं समाधान किया गया है। यद्यपि आलापाधिकार आदिमें पर्याप्त मनुष्यनियोंके चउदह गुणस्थान बतलाये हैं तथापि वहां गतिका प्रकरण नहीं है, यहां गतिका प्रक-रण है और इसलिये उक्त शंका-समाधानका यहीं होना सर्वथा संगत है। अतः ६ और चउदह १४ गुणस्थानोंके उल्लेखका सम्बन्ध प्रकृत सूत्रसे ही है, अन्य सूत्रोंसे नहीं। अतएव स्पष्ट है कि टीकासे भी ९३ सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन होता है और उसकी उसमें चर्चा भी खुले तौरसे की गई है।

५—अब केवल पाँचवीं दलील रह जाती है सो उसके सम्बन्धमें बहुत कुछ पहली और दूसरी दलीलकी चर्चामें कथन कर आये हैं। हमारा यह भय कि 'इस सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका विधायक न माना जायगा तो इस सिद्धान्तग्रंथसे उनके पांच गुणस्थानोंके कथनकी दिगम्बर मान्यता सिद्ध न हो सकेगी और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा।' सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओं, संगतियों, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है कि द्रव्यस्त्रीका मोक्ष नहीं होता और इसलिये श्वे-ताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आ सकता। आज तो दिगम्बरमान्यताके पोषक और समर्थक इतने विपुल रूपमें प्राचीनतम प्रमाण मिल रहे हैं जो शायद पिछली शता-ब्दियोंमें भी न मिले होंगे। पुरातत्वका अबतक जितना अन्वेषण हो सका है और भूगर्भसे उसकी खुदाई हुई है उस सबमें प्राचीनसे प्राचीन दिगम्बर नग्नपुरुष मूर्तियां ही उपलब्ध हुई हैं और जो दो हजार वर्षसे भी पूर्वकी हैं। परन्तु सचेल मूर्ति या स्त्रीमूर्ति, जो जैन निग्रन्थ हो, कहींसे भी प्राप्त नहीं हुई। हाँ, दशवीं शताब्दीके बादकी जरूर कुछ सचेलपुरुष मूर्तियाँ मिलती बतलाई जाती हैं सो उस समय दोनों ही परम्पराओंमें काफी मतभेद हो चुका था तथा खण्डन-मण्डन भी आपसमें चलने लगा था। सच पूछा

(शेष पृष्ठ २६१ पर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायरता घोर पाप है !

बङ्गाल और बिहारके वे नारकीय दिन !

(ले०—श्री अयोध्याप्रसाद 'गोयलीय')

उन्हीं दिनोंकी बात है जब पूर्वी बंगालके हिन्दू भेड़ोंकी तरह मिमयाते और गायोंकी तरह डकराते हुए काटे जा रहे थे। और बंगमहिलाएँ आततायियोंके साथ चुपचाप उसी तरह जा रही थीं, जिस तरह बेगारमें पकड़ी हुई गाय घास चरने सिपाहीके साथ जाती हैं।

मेरा डेढ़ वर्षका बच्चा एकाएक जोरसे चीख उठा, और बदहवास होता हुआ मेरे पास आया तो उसकी अंगुलीमें चींटा चिपटा हुआ था। मेरे छुड़ानेपर चिउँटा मर कर ही उँगलीसे अलग हुआ और मरते-मरते भी खूनकी धार बहा गया।

बच्चा तो काफी देर सुबककर खेलने लगा, पर मैं अपने में खो गया। सोचा बंगालके हिन्दुओंसे तो यह चिउँटा ही लाख दर्जे श्रेष्ठ है, जिसने बच्चों के हृदयपर यह अङ्कित कर दिया कि "बच्चू! हमको छेड़ना कुछ अर्थ रखता है।" और अब भूलकर भी वह उन्हें नहीं छेड़ता।

एक चिउँटेने मरकर अपनी जातिकी सुरक्षाका वचन उस शरारती लड़केसे ले लिया। यदि वीरत्वकी क़दर मेरे पास होती तो ऐसे जाँनिसार चिउँटेका स्मारक मुझे बनवाना चाहिए था। परन्तु जो कौम, लोक-हित-युद्धमें जूझ मरनेवाले और परोपकारार्थ सर्वस्व न्योछावर करनेवाले अपने सपूतों की तालिका तक न रख सकी भला उस कौममें जन्म लेकर मैं ऐसा साहस कर सकता था? कैसी मूर्खतापूर्ण बात थी, जो सुनता वही हँसता।

चींटेकी बात आई गई। जब मैंने सुना कि महात्माजी हिन्दुओंकी रक्षाको पूर्वी बंगाल दौड़े गये हैं, और उड़ीसाके प्रधानमन्त्री उड़ियोंकी खोपड़ियाँ गिनने कलकत्ते पहुँचे हैं। तभी ख़याल आया कि बंगालमें सिक्ख भी तो रहते हैं, उनकी रक्षार्थ सिक्ख लीडर नहीं पहुँचे। क्या सिक्ख लीडरों को हवाई जहाज नहीं मिला था। उन्होंने बंगाल जाना ही सिक्ख जातिका अपमान समझा।

सब जानते हैं सिक्खके बालको हाथ लगाना, सिंहकी मूंछको छूना है। बड़े बड़े तीसमारखाँ, बादशाहों, सेनापतियों और पेशेवर शिकारियोंके शिकार-कौशल पढ़े। मगर कहीं यह पढ़नेमें न आया कि सिंहकी मूँछका बाल तो क्या पूँछका बाल ही छूनेका किसीने साहस किया हो। जहाँ सिंहकी मूँछ या पूँछके बाल उखेड़नेकी घटना पढ़नेमें नहीं आई, वहाँ यह भी कभी पढ़ने या सुननेमें नहीं आया कि किसी विधर्मी ने गुरुद्वारेपर आक्रमण किया हो, सिक्ख महिलाको छेड़ा हो या सिक्खको तंग किया हो!

इसका कारण यही है कि प्रत्येक आततायी इसके परिणामसे परिचित है। इसलिये बंगालके प्रधानमन्त्रीको मुसलमानोंके लिये चेतावनी देनी पड़ी कि 'मुसलमान सिक्खों को न छेड़ें, वे हमारे हितैषी हैं।' क्यों नहीं, १८५७ के विद्रोहमें अंग्रेजोंका पक्ष लेकर जो मुसलमानी सल्तनतका चिराग़ बुझायें, मुस्लिम मिनिस्ट्रीके होते हुए शहीदगञ्ज मस्जिदपर अधिकार जमालें, जिन्हा जैसे क़ायदेआज़म को दन्दान शिकन जवाब दें। वे तो भाई और हितैषी? और वे हिन्दू जो मुसलमानी सल्तनतको समाप्त कर देने वाले अंग्रेजोंसे १५० वर्षसे लोहा लेते रहे, अपना सर्वस्व देशहित न्योछावर कर दें, जनसंख्याके अनुपातसे अधिक बगैर कुछ हाथ पाँव हिलाये अधिकार दें, दिनरात ठोकियों में हाथ डालते रहें, चुपचाप लुटते और पिटते रहें, वे शत्रु! बेशक, कायरताका यही पुरस्कार हिन्दुओंको मिलना चाहिये था।

सिन्धकी मिनिस्टरी सत्यार्थप्रकाशपर तो प्रतिबन्ध लगायेगी, पर सिक्खोंके उस ग्रन्थसाहब जिसमें जहाँगीर भी परिवर्तन न करा सका और जिसका हर एक अनुयायी दैनिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रार्थनामें 'उठ गई सभा म्लेच्छकी' आदि कहकर मुसलमानों के प्रति घृणा प्रगट करता है—प्रतिबन्ध तो क्या विरोधमें एक शब्द भी न कह सकी। इसका कारण निम्न उदाहरण से समझ में आयेगा।

एक बार एक देशभक्तने व्याख्यान देते हुए कहा था—

'चीनियों और जापानियोंकी शक्लोशबाहतमें यूं तो काफी फ़र्क होता है, पर हिन्दुस्तानियोंके लिये यह मुश्किल है। उनकी पहचानका सरल उपाय यह है कि किसी चीनी के पाँवमें पीछेसे ठोकर मार दी जाये तो वह पलटकर ठोकर मारनेका कारण पूछेगा और जापानी ठोकरका जवाब ठोकरसे दे चुकनेपर वजह दर्याफ्त करेगा। असावधानीके लिये क्षमा मांगनेपर तो क्षमा करेगा, जानबूझकर शरारत की गई तो फिर दुबारा प्रहार करेगा। तभी मेरे मुँहसे निकला कि कोई यूरोपियन हिन्दुस्तानमें हिन्दू-मुसलमानको भी इसी तरह बाआसानी पहचान सकता है। हिन्दू ठोकर लगने पर पूछेगा 'आपके चोट तो नहीं लगी, क्षमा करना।' मुसलमान ठोकर लगानेवालेको कमजोर देखेगा तो हमला करेगा, बलवान देखेगा तो ऊपरसे हँसता हुआ और मनमें गालियां देता हुआ बढ़ जायगा। सिक्ख इसी तरहके बलवान लोगोंमें हैं।

जिन बंगालियोंने कलकत्तेसे उठाकर अंग्रेजोंकी राजधानी दिल्ली फेंक दी। बंग भंगका नशा उतार कर जिन्होंने जूतेसे नाक काट दी, चटगांवके शस्त्रागारको लूटकर अंग्रेजोंके धाक की बुनियाद ढा दी, समूचे भारतमें बमों और पिस्तौलोंका आतंक फैलाकर शक्तिशाली गवर्नमेण्टकी छाती दहला दी और जिसके एक सपूत 'सुभाष' ने नाकों चने चबा दिये, आज उन्हीं बंगवीरोंकी माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ क्यों आततायियोंके घरोंमें चुपचाप आंसू बहा रही हैं? बलवान मार तो सकता है, पर जबरन बाँधकर नहीं रख सकता।

मनुष्य तो मनुष्य, भेड़-बकरी भी जबरन बाँधकर नहीं रखी जा सकतीं, उनके मनमें ही जब दासता समा जाती है, तभी वह बँधी रहती हैं, अन्यथा वह ऐसा शोर मचाती हैं कि बाँधनेवाला तो क्या, उसके पड़ौसियोंकी भी नींद हराम हो जाती है। मनुष्य तो आखिर मनुष्य है। बचपनसे सुनते आये हैं कि चौपाया तो बाँधकर रखा भी जा सकता है, दोपाया नहीं। मगर अब तो इसके विपरीत हो रहा है। दोपाये भेड़-बकरियोंसे बदतर होगये हैं। वर्ना क्या कारण है कि जो स्त्री एक बार अपहृत करली गई, वह कभी वापिस न आई और वह आततायियोंमें घुलमिल एकाकार हो गई। और उन्हींकी सन्तान अपनी माताओंके अपमानका बदला आततायियोंसे लेनेके बजाय निरन्तर हिन्दुओंकी जान-मालके घातक बने रहते हैं। बकौल महात्मा गाँधी 'भारतीय मुसलमान ९९ फीसदी ऐसी ही देवियोंकी सन्तान हैं।'

सन् २४ में जब साम्प्रदायिक उत्पात हो रहे थे एक हिन्दू नेताके यह कहनेपर कि मुसलमानी सल्तनतके जमानेमें हिन्दुओंको बलात् मुसलमान बनाया गया।' हसन निज़ामी ने कहा था कि ऐसा कहना हिन्दुओंका अपमान करना है। जो हिन्दू मुसलमानको छुआ पानी पीनेसे मरना बेहतर समझते हैं वह जबरन मुसलमान क्योंकर बनाये जा सकते हैं। और यह जबर्दस्ती बनियों, ब्राह्मणोंपर तो मानी भी जा सकती है, पर वे राजपूत जो बात-बातमें तलवार निकाल लेते थे, जबरन कैसे मुसलमान बनाये जा सकते थे। और नौ मुसलमानोंमें अधिकांश संख्या राजपूतों की ही है ये कयासके बाहर है कि वे कभी जबरन भी अपना धर्म खो सकते थे।

बात चाहे हसन निज़ामी साहबने एक दम झूठ कही, पर हमारे पास इसका जवाब नहीं है। नेता कहते हैं—बंग-नारियोंको सीताका आदर्श उपस्थित करनेको। मैं पूछता हूं सीताका वह कौन-सा आदर्श था, जो हिन्दु-ललनाएँ अमल में नहीं ला रही हैं। हिन्दु-नारियां तो आज उसी आदर्शपर चल कर अपनी सन्तानका भक्षण कर रही हैं।

सीताको हरण करनेके लिये रावण साधुका वेश बनाकर आया तो वही सीता जो पर-पुरुषसे एकान्तमें बात करना पाप समझती थी और अनेक दास दासियोंके समीप रहनेपर भी अशोक वाटिकामें तिनकेकी ओट देकर रावणको प्रत्युत्तर देती है उसी सीताने निर्जन वनमें एक पर-पुरुषसे बात करने का आदर्श उपस्थित किया! लक्ष्मणको शंकित दृष्टिसे देखने वाली सीता उसकी बनाई रेखाके बाहर आई। और रावण के हरण करनेपर मौन सत्याग्रहका आदर्श उपस्थित किया। यही आदर्श तो आज हिन्दू नारियां उपस्थित कर रही हैं फिर भी उन्हें उपदेश दिया जाता है!

सीता शरीरसे अवश्य निर्बल थी, परन्तु उसके पास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दांत और नख दोनों थे, चाहती तो रावणकी आंख बचाकर, नोचकर काटकर, छीना-झपटी करके देर अवश्य लगा सकती थी। तनिक भी इस तरहका साहस दिखाया होता तो शायद इतनेमें राम ही आ जाते। वनोंसे भील वगैरह ही रक्षार्थ आ जाते और कोई भी न आता तो एक आदर्श तो बन जाता, ताकि गुंडियोंकी तरह हिन्दू नारियोंको उठाकर कोई नहीं ले जा सकता। परन्तु सीता तो उस कायरताबहुरूपिणीके चक्कमें आगई जो हमेशा अहिंसाकासा रूप बनाकर लोगोंको बुद्धिभ्रष्ट करके आपदाओंमें डालती रहती है। यदि उसके बेरेमें सीता न आई होती तो सीता लंकामें जाकर भी अवसर पाकर रावणका बध कर सकती थी, महलोंमें आग लगाकर अपहरणका स्वाद चखा सकती थी। पर, नहीं वह गायकी तरह बधिकके कब्जेमें रहकर केवल आंसू बहाती रही।

मगर सीताका यह आदर्श जटायुको पसन्द न आया शायद इसीलिए समझदार लोगोंने इसे पक्षीतक कह दिया है। जो भी हो, यह अन्याय उसके पुरुषत्वके लिये चुनौती था। यूं सीतारामसे कोई राग और रावणसे उसे द्वेष न था। उसके सामने तो प्रश्न था कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? चुपचाप आततायीके अन्यायको सहन करना उसने अधर्म, और आततायीको दण्ड देना, अत्याचारके विरोधमें उठना, नारीकी रक्षा करना धर्म समझ कर वह रावणसे भिड़ गया! भिड़नेसे पूर्व जटायु भी यह जानता था कि हाथी और मच्छरकी लड़ाई है? सीताको छुड़ाना तो दर किनार अपना भी सफाया हो जायगा। फिर भी वह जाँबाज रावणपर टूट पड़ा। मरा तो, पर रावणको क्षत विक्षत करके। पुरुषोंको यह पाठ पढ़ा गया कि खबरदार! आततायी कितना ही बलवान हो उसके अत्याचारका विरोध अवश्य करना। आज शायद जटायुके उस पाठका ही परिणाम है कि लोग शांति शान्ति क्षमा-क्षमाके शोरमें भी अत्याचारका विरोध करके अपना रक्त बहाकर जटायुका तर्पण करते रहते हैं।

यदि सीताने भी हरण होते हुए समय बल-प्रयोग किया होता या लंकामें जाकर रावणको सोते हुए बध कर दिया होता या महलोंमें आग लगा दी होती तो निश्चय ही आज हिन्दु-नारियोंके सामने एक निश्चित रूप रेखा हुई होती और तब आततायी उनके पास आनेमें उसी तरह भय खाते जैसे छछून्दरके पास आनेमें सांप भय खाता है।

एक बार बनारस गया तो विश्वनाथजीका मन्दिर दिखाते हुए पण्डा वहां ले गया जहां औरंगजेब द्वारा हिन्दू मन्दिर तोड़ कर बनवाई हुई मस्जिद आज भी हिन्दु जातिके सीनोंपर मेखकी तरह जमी हुई मौजूद है। पण्डेने एक कुआ दिखाकर कहा, 'धर्मावतार! यह वही कुआ है जिसमें बाबा विश्वनाथ मुसलमानोंके छूनेके भयसे कूद गये थे और आज तक वहीं मौजूद हैं। मैंने कुढ़कर कहा 'और तुम लोग उनके साथ क्यों नहीं गये, क्या तुम्हें मुसलमानोंके छूजानेका भय नहीं था।' भला जिस जातिको यह पाठ पढ़ाया जाता हो कि उनके ईश्वर भी आततायीयोंसे भागते रहते हैं वह उनका डटकर कैसा मुकाबिला करेंगे, सोचनेकी जरूरत नहीं। एक हिन्दु हैं जो हजारों मन्दिरोंकी बनी मस्जिदोंको बड़े चावसे अपने महमानोंको दिखाते हैं और एक सिक्ख हैं जो मुस्लिम मिनिस्ट्रीके होते हुए भी मस्जिदको गुरुद्वारा बना बैठे।

जब हम चलें तो साया भी अपना न साथ दे।
जब वह चलें तो जमीन चले आस्मां चले॥—जलील

सीताका दूसरा आदर्श ये था कि वे साध्वी रहीं। आज भी हिन्दू नारियाँ उसी आदर्शपर चल रही हैं। परन्तु सीता और आजकी नारियोंके युगमें बहुत बड़ा अन्तर ये है कि रावण बलात्कारी नहीं था। आजके आततायी बलात्कारी हैं। रावण बलात्कारी होता तब इस आदर्शकी रूपरेखा क्या हुई होती, कुछ कहा नहीं जा सकता।

बंगालके उपद्रवोंपर जिन्होंने कहा था कि हिन्दु-मुस्लिम झगड़े ठीक नहीं। ताली दोनों हाथसे बजती हैं, अतः दोनों सम्प्रदायोंके लोगोंको शांत रहना चाहिये। इस शरारत भरे वक्तव्यसे बदनमें आग-सी लग गई। घरको डाकू लूटते रहें और रोते बिलखते घरवालोंको यह कहकर सान्त्वना दी जाय कि 'भाई आपसमें मत लड़ो, मेल मिलापसे रहो।' पूछता हूँ डाकुओंका क्या बिगड़ा जो हाथ लगा ले भागे, मकान मालिक लुट गया और झगड़ालू भी करार दिया गया सो मुफ्तमें।

यह तो वही बात हुई जैसे कई मूर्ख पत्रकार बैलगाड़ीकी ट्रेनसे किरचा-किरचा होती देख 'रेल-बैलगाड़ी भिड़न्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिख देते हैं।'

क्या खूब ?

जब कोई ज़ुल्म नया करते हैं फ़र्माते हैं।
अगले वक़्तोंके हमें तर्ज़े सितम याद नहीं॥

—चकबस्त

बंगालकी प्रतिक्रिया स्वरूप अहायुका आदर्श समझने वाले बिहारमें उपद्रव हुए तो जिन्हा फौरन पैंतरा बदलकर बोले, 'नहीं, बाज़ दफ़ा एक हाथ दूसरे हाथपर अपने आप पड़कर ताली बजा देता है।' पूर्वी बङ्गालमें हिन्दुओंका नाश कर दिया गया, तब भी जिन्हाकी नज़रोंमें उस तबाहीमें स्वयं बङ्गाली हिन्दुओं ही का दोष था। और बिहारमें पटने, बिहार शरीफ़ वग़ैरहमें महीनों पहलेसे मुसलमानोंकी तैयारी हो रही थी, तो भी वहाँ केवल हिन्दुओंका अपराध था। मुसलमान तो चाहे बङ्गालके हों या बिहारके बिचारे सीधे साधे हैं। क्या खूब 'दूसरेके घरमें लगे तो आग, अपने यहाँ हो तो बैसन्धर'

और ज़बानकी सफ़ाई देखिये मुस्लिमलीगी 'डान' लिखता है—बिहारमें मुसलमान घायल बहुत कम हुए हैं, मरने वालोंकी तादाद क़यासले बाहर है। क्योंकि बिहारके मुसलमान ज़ालिम हिन्दुओंका मुक़ाबला करते हुए इस्लामपर शहीद हुए हैं। इन मरने वाले मुसलमानोंने हमें बतला दिया है कि इस्लामपर इस तरह जान कुर्बान किया करते हैं। एक एक मुसलमान हज़ारों हिन्दुओंका मुक़ाबला करके शहीद हुआ है।

अब देखिये मरनेवालोंका भाग्य। बिहारमें जो हिन्दुओंको मारते-पछाड़ते मरे वह तो सब शहीद हो गये। मगर बङ्गालके हिन्दु बग़ैर किसी मुसलमानको मारे उनके हाथसे मर गये वह जिबह हुए। मरे दोनों ही, मगर मृत्यु-मृत्युमें अन्तर है। वे युद्धमें मरकर वीर-गतिको प्राप्त हुए, ये कसाइयोंके हाथसे जिबह होकर कीड़े-मकोड़ोंमें शामिल कर दिये गये। बिहारके शहीदोंके लिये कहा जा रहा है:—

'जुड़ेंगे हर बरस मेले शहीदोंके मज़ारोंपर'

और पूर्वी बङ्गालके लिए:—

'जब मरे परवाने शमापर कोई पुरसा न था।'

मैं भी इस वक्तव्यका कायल हूँ, जो लड़ते हुए मरता है सचमुच वह शहीद होकर वीर-गतिको प्राप्त होता है। एक ऐतिहासिक घटना है:—

औरंगज़ेबके हुक्मपर जब उसके भाई दाराको बधिक लोग क़त्ल करने पहुँचे तो दारा उस समय चाक़ूसे सेब छील रहा था। बधिकोंको देखकर वह चाक़ू लेकर खड़ा हो गया और बोला—'आओ ज़ालिमो! तैमूरका वंशज कुत्तोंकी तरह न मरकर अपने पूर्वजोंकी तरह लड़ते हुए मरेगा।' दारा आक्रमण करता हुआ मर गया। हमारे शास्त्रों और इतिहासमें इस तरहके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। मगर उनको इस तरहसे ढक या विकृत कर दिया गया है कि कुछ भी तो स्पष्ट नहीं मालूम होता। और जो हमारे उपदेशक या दार्शनिक हैं वे न जाने कहाँ से ऐसे कायरताके उदाहरण निकाल लाते हैं कि मानो इन्होंने अवतारही हमारा नाश करनेको लिया है।

महात्मा गाँधीने पूर्वी बङ्गालके अपहरणकी घटनाओंपर वक्तव्य दिया कि ज़बर्दस्ती परिवर्तनसे तो ज़हर खाकर मर जाना अच्छा है? क्यों ज़हर खा लेना अच्छा है? यही तो आततायी चाहते हैं। काफ़िरोंसे पाक 'पाकिस्तान' और उनकी धन दौलत। ज़हर खानेके बजाय उनके घरमें घुसकर वह कृत्य क्यों नहीं करना चाहिए, जो रावणके घर सीताको करना था।

बिल्लीके भयसे कबूतर आँखें बन्द करले या आत्म-हत्या बिल्लीका दोनों तरह लाभ है! वह बाजकी तरह झपट कर उसकी आँखें जबतक नहीं फोड़ देता खतरेमें ही रहेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पृ० २५६ का शेषांश)

जाय तो उस समय दोनों ही परम्पराएँ अपनी अपनी प्रगति करनेमें अग्रसर थीं। अतः उस समय यदि सचेल पुरुष मूर्तियाँ भी निर्मित कराई गई हों तो आश्चर्य ही नहीं है। दुर्भाग्यसे आज भी हम अलग हैं और अपनेमें अधिकतम दूरी ला रहे हैं और लाते जा रहे हैं। समय आये और हम तथ्यको स्वीकार करें, यही अपनी भावना है। और यदि सम्भव हो तो हम पुनः आपसमें एक हो जावें तथा भगवान महावीरके अहिंसा और स्याद्वादमय शासनको विश्वव्यापी बना दें।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचनके प्रकाशमें निम्न परिणाम सामने आते हैं:—

(१) षट्खण्डागममें समग्र कथन भावकी अपेक्षासे किया गया है और इसलिये उसमें द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंकी चर्चा नहीं आई।

(२) ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका होना न आगमसे विरुद्ध है और न युक्तिसे। बल्कि न होनेमें इस योगमार्गणा सम्बन्धी मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंके कथनके अभावका प्रसंग, वीरसेन स्वामीके टीकागत 'संजद' पदके समर्थनकी असंगति और राजवार्तिककार अकलंकदेवके पर्याप्तमनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंको बतलानेकी असंगति आदि कितने ही अनिवार्य दोष सम्प्राप्त होते हैं।

(३) 'पर्याप्त' शब्दका द्रव्य अर्थ विवक्षित नहीं है उसका भाव अर्थ विवक्षित है। पर्याप्तकर्म जीवविपाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर ही जीव पर्याप्तक कहा जाता है।

(४) पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने जो भावस्त्रीमें सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न होनेकी मान्यता प्रकट की है वह स्खलित और सिद्धान्तविरुद्ध है। स्त्रीवेदकी उदय व्युच्छित्ति दूसरे ही गुणस्थानमें हो जाती है और इसलिये अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्री चौथा गुणस्थान कदापि संभव नहीं है।

(५) वीरसेन स्वामीके 'अस्मादेवार्षाद्' इत्यादि कथनसे सूत्रमें 'संजद' पदका टीकाद्वारा स्पष्टतया समर्थन होता है।

(६) द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका कथन मुख्यतया चरणानुयोगसे सम्बन्ध रखता है और षट्खण्डागम करणानुयोग है, इसलिये उसमें उनके गुणस्थानोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओं, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है और इसलिये षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान न मिलनेसे श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आसकता।

आशा है ९३ सूत्रमें वें 'संजद' पदका विरोध न किया जायगा और उसमें उसकी स्थिति अवश्य स्वीकार की जाएगी।

वीरसेवामन्दिर, ता० ६-६-१९४६।

बंगालके कुछ प्राचीन जैनस्थल

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.)

एनल्स आफ दी भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जिल्द नं० २६ का भाग ३-४ (संयुक्त) अभी हालमें ही प्रकाशित हुआ है। इसके पृष्ठ १७७ पर डा० विमल चरण ला का एक लेख "बंगालके प्राचीन ऐतिहासिक स्थल" नामका प्रकट हुआ है। इस लेखमें विद्वान लेखकने बंगदेशके सभी प्राचीन स्थलोंका विवेचन नहीं किया है, वरन् कुछएक विशेष महत्वपूर्ण स्थानोंके इतिहासपर ही संक्षिप्त प्रकाश डाला है।

लेखपरसे, प्राचीन कालमें निम्न लिखित स्थानोंके साथ जैनधर्मका सम्बन्ध व्यक्त होता है:—

पहाड़पुर—

इस नगरके ध्वंसावशेष बंगालके ज़िले राजशाहीमें,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बी. ए. रेलवेके जमालगंज स्टेशनसे तीन मील पश्चिमकी ओर अवस्थित है। इसका प्राचीन नाम सोमपुर था। बंगालके पाल नरेशोंके समय, ८ वीं शताब्दी ईस्वीमें, यहां बौद्ध-विहार तथा तारादेवीके मन्दिर निर्माण हुए बताये जाते हैं। यहाँके खण्डहरोंकी दीवारोंपर पंचतन्त्र व हितोपदेशकी कथाएँ, रामायण और महाभारतके दृश्य तथा कृष्ण राधा आदिकी मूर्तियाँ भी अंकित हुई पाई जाती हैं।

५ वीं "शताब्दी ईस्वीमें इस स्थान पहाड़पुर अपर नाम सोमपुरमें एक विशाल जैन मन्दिर अवस्थित था।

महास्थानगढ़—

इसके ध्वंसावशेष आधुनिक कस्बे बोगरासे ७ मील उत्तरकी ओर पाये जाते हैं। कनिंघम साहबने इस स्थानको प्राचीन नगर पुण्ड्रवर्धनके रूपमें चीन्हा था, जिसका कि नाम एक मौर्यकालीन जैन शिलालेखमें भी मिलता है। ४ थीसे ६ ठी शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान गुप्त-साम्राज्यके एक प्रधान सूबेकी राजधानी था। ७ वीं शताब्दीमें चीनी यात्री ह्वेनसांग यहाँ आया था, और १२ वीं शताब्दीके पश्चात यह नगर गौणताको प्राप्त होगया।

इस स्थानसे जो पुरातत्त्व-संबंधी महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें एक प्राचीन खण्डित जैन मूर्ति भी है। (यह स्थान अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामीकी जन्मभूमि थी)।

मैनामती तथा लालभाईकी पहाड़ियां—

ये पूर्वी बंगालके तिप्पेरा ज़िलेमें, कमिल्ला नगरसे ६ मील पश्चिमकी ओर स्थित हैं। इस स्थानका प्राचीन नाम (७ वीं ८ वीं शताब्दी ईस्वीमें) पट्टिकेरा था और यह प्रसिद्ध 'समतट' प्रान्तकी राजधानी थी। उस कालमें बर्मा और अराकानसे भी इस स्थानका गहरा सम्बन्ध था। यहाँके राजा चन्द्रवंशी थे। आख्यायिकाओंके प्रसिद्ध सिद्ध-राजा गोपीचन्द्रकी माता तथा गुरु गोरखनाथकी चेली रानी मैनावतीके नामपर ही इस स्थानका नामकरण हुआ प्रतीत होता है।

डा० लॉ महाशयके शब्दोंमें—"मैनावती स्थानसे प्राप्त जैन तीर्थङ्करकी पाषाणमयी दिगम्बर प्रतिमा ऐसा सूचित करती है कि इस प्रान्त में जैनधर्मका विशेष प्रभाव रहा है।" यहांके मन्दिरोंके खंडरोंकी दीवारोंपर यक्षों, किंपुरुषों गंधर्वों, विद्याधरों, किन्नरों आदिकी मूर्तियाँ भी खुदी हुई मिलती हैं।

सुन्दरबन—

सुन्दरबनका वन्य प्रदेश, प्राचीनकालमें समतट अथवा व्याघ्रतटी (व्याघ्रतटी) राज्यमें सम्मिलित था। सन् ई० की सातवीं शताब्दीमें, चीनी यात्री ह्वेनसांगने इस 'समतट' प्रान्तमें अनेक जैनमन्दिर देखे थे। किन्तु अभी तक उन प्राचीन मन्दिरोंका वहाँ कोई चिन्ह नहीं मिला है।

कुछ चित्रित ईंटें, खण्डित पाषाण मूर्तियोंके टुकड़े, स्कन्दगुप्त व कुशान राजा हुविष्कके सिक्के आदि फुटकर वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं।

ताम्रलिप्ति—

इसका प्रचलित नाम तामलुक है और यह स्थान मिदनापुर ज़िलेमें अवस्थित है। महाकाव्यों, पुराणों तथा बौद्ध ग्रन्थोंमें इस नगरके उल्लेख आये हैं। ४ थी शताब्दी ईस्वीपूर्वसे १२ वीं शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान एक प्रसिद्ध बन्दरगाह तथा व्यापारका भारी केन्द्र रहा था। चीनी यात्रियों—फाह्यान, इत्सिंग तथा ह्वेनसांगने यहाँकी यात्रायें की थीं।

यद्यपि विद्वान लेखकसे यह बात छूट गई है, परन्तु प्राचीन जैन साहित्यमें भी इसी ताम्रलिप्ति (ताम्रलिप्ति, ताम्रलिप्तिका, ताम्रलिप्तिपुर) नगरके उल्लेख अनेक स्थलों-में आये हैं; जैसेकि आचार्य हरिषेणके बृहत् कथाकोषकी कई कथाओंमें, जैनश्वेताम्बर आगमोंमें, प्राचीन कालके २५½ देशोंकी सूचीके अन्तर्गत वंगदेशकी राजधानीके रूपमें, इत्यादि। इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि प्राचीन कालमें जैनधर्मके साथ भी इस स्थानका विशेष संबंध रहा है।

चन्द्रनाथ—

चिटगाँव ज़िलेमें सीताकुंडके निकट 'चन्द्रनाथ' और 'सम्भवनाथ' के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर हैं। इस समय ये दोनों मन्दिर शिवके माने जाते हैं और इस प्रदेशमें शैवमत-का ज़ोर है। किन्तु उपर्युक्त दोनों नाम क्रमसे ८ वें तथा ३ रे जैन तीर्थङ्करोंके हैं, जिनकी कि अनेक प्राचीन मूर्तियाँ भी मिलती हैं। क्या आश्चर्य है यदि मूलमें इन जैन-तीर्थङ्करोंसे ही उक्त स्थानका संबंध रहा हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र्यका आधार

[संयम और निष्ठा]

(ले०—श्री काका कालेलकर)

अपने जीवनको शुद्ध और समृद्ध बनानेकी साधना जिन्होंने की है, वे अनुभवसे कहते आये हैं कि "आहार-शुद्धो सत्त्वशुद्धिः"। इस सूत्रके दो अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि सत्त्वके दो माने हैं--शरीरका संगठन और चारित्र्य। अगर आहार शुद्ध है, याने स्वच्छ है, ताजा है, परिपक्व है, सुपाच्य है, प्रमाणयुक्त है और उसके घटक परस्परानुकूल हैं तो उसके सेवनसे शरीरके रक्त, मज्जा, शुक्र आदि सब घटक शुद्ध होते हैं। वात, पित्त, कफ आदिकी मध्यावस्था रहती है और सप्तधातु परिपुष्ट होकर शरीर निरोगी, सुदृढ, कार्यक्षम तथा सब तरहके आघात सहन करनेके योग्य बनता है और इस आरोग्यका मनपर भी अच्छा असर होता है।

"आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धिः" का दूसरा और व्यापक अर्थ यह है कि आहार अगर प्रामाणिक है, हिंसाशून्य है, द्रोहशून्य है और यज्ञ, दान, तपकी फर्ज़ अदा करनेके बाद प्राप्त किया है तो उससे चारित्र्यशुद्धिको पूरी-पूरी मदद मिलती है। चारित्र्यशुद्धिका आधार ही इस प्रकारकी आहारशुद्धिपर है।

अगर यह बात सही है, आहारका चारित्र्यपर इतना असर है, तो विहारका यानी लैंगिक शुद्धिका चारित्र्यपर कितना असर हो सकता है, उसका अनुमान कठिन नहीं होना चाहिये।

जिसे हम काम-विकार कहते हैं अथवा लैंगिक आकर्षण कहते हैं, वह केवल शारीरिक भावना नहीं है। मनुष्यके व्यक्तित्वके सारे - के - सारे पहलू उसमें उत्तेजित हो जाते हैं, और अपना-अपना काम करते हैं। इसीलिये जिसमें शरीर, मन, हृदयकी भावनाएँ और आत्मिक निष्ठा—सबका सहयोग अपरिहार्य है, ऐसी प्रवृत्तिका विचार एकांगी दृष्टिसे नहीं होना चाहिये। जीवनके सार्वभौम और सर्वोत्तम मूल्यसे ही उसका विचार करना चाहिये। जिस आचरणमें शारीरिक प्रेरणाके वश होकर बाकी सब तत्त्वोंका अपमान किया जाता है, वह आचरण समाजद्रोह तो करता ही है; लेकिन उससे भी अधिक अपने व्यक्तित्वका महान द्रोह करता है।

लोग जिसे वैवाहिक प्रेम कहते हैं, उसके तीन पहलू हैं। एक भोगसे संबंध रखता है, दूसरा प्रजातन्तुसे और तीसरा भावनाकी उत्कटतासे। पहला प्रधानतया शारीरिक है, दूसरा मुख्यतः सामाजिक और तीसरा व्यापक अर्थमें अध्यात्मिक। यह तीसरा तत्त्व सबसे महत्वका सार्वभौम है और उसीका असर जब पहले दोनोंके ऊपर पूरा-पूरा पड़ता है, तभी वे दोनों उत्कट, तृप्तिदायक और पवित्र बनते हैं।

इन तीन तत्त्वोंमेंसे पहला तत्त्व बिल्कुल पार्थिव होनेसे उसकी स्वाभाविक मर्यादाएँ भी होती हैं। भोगसे शरीर क्षीण होता है। अतिसेवनसे भोग-शक्ति भी क्षीण होती है, और भोग भी नीरस हो जाते हैं। भोगमें संयमका प्रमाण जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उत्कटता होगी। भोगमें संयमका तत्त्व आनेसे ही उसमें अध्यात्मिकता आ सकती है। संयमपूर्ण भोगमें ही निष्ठा और परस्पर आदर टिक सकते हैं और संयम और निष्ठाके बिना वैवाहिकजीवनका सामाजिक पहलू कृतार्थ हो ही नहीं सकता।

केवल लाभ-हानिकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी वैवाहिक जीवनका परमोत्कर्ष संयम और अन्योन्य निष्ठामें ही है। भोग-तत्त्व पार्थिव है और इसीलिये परिमित है। भावना-तत्त्व हार्दिक और आत्मिक होनेसे उसके विकासकी कोई मर्यादा ही नहीं है।

आजकलके लोग जब कभी लैंगिक नीतिके स्वच्छन्द-का पुरस्कार करते हैं, तब वे केवल भोग-प्रधान पार्थिव अंशको ही ध्यानमें लेते हैं। जीवनकी इतनी क्षुद्र कल्पना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ले बैठे हैं कि थोड़े ही दिनोंमें उन्हें अनुभव हो जाता है कि ऐसी स्वतन्त्रतामें किसी किस्मकी सिद्धि नहीं है और न सच्ची तृप्ति। ऐसे लोगोंने अगर उच्च आदर्श ही छोड़ दिया तो फिर उनमें तारक असन्तोष भी नहीं बच पाता। विवाह-सम्बन्धमें केवल भोग-संबंधका विचार करने वाले लोगोंने भी अपना अनुभव जाहिर किया है—

एतत्कामफलं लोके यद्द्वयोः एकचित्तता।
अन्यचित्तकृते कामे शवयोरिव संगमः॥

यह एकचित्तता यानी हृदयकी एकता अथवा स्नेह-ग्रन्थी अन्योन्यनिष्ठा और अपत्यनिष्ठाके बिना टिक ही नहीं सकती। बढ़नेकी बात दूर ही रही।

संयम और निष्ठा ही सामाजिक जीवनकी सच्ची बुनियाद है। संयमसे जो शक्ति पैदा होती है, वही चारित्र्य-का आधार है। जो आदमी कहता है—Jcan resist onything but temptatiun—वह चारित्र्यकी छोटी-मोटी एक भी परीक्षामें उत्तीर्ण न हो सकेगा। इसीलिए संयम ही चारित्र्यका मुख्य आधार है।

चारित्र्यका दूसरा आधार है निष्ठा। व्यक्तिके जीवनकी कृतार्थता तभी हो सकती है जब वह स्वतन्त्रतापूर्वक समष्टिके साथ ओत-प्रोत हो जाता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको सम्हालते हुये अगर समाज-परायणता सिद्ध करनी हो तो वह अन्योन्यनिष्ठाके बिना हो नहीं सकती और अखिल समाजके प्रति एकसी अनन्यनिष्ठा तभी सिद्ध होती है, जब आदमी ब्रह्मचर्यका पालन करता है, अथवा कम-से-कम वैवाहिक जीवन परस्पर दृढनिष्ठासे प्रारम्भ करता है। अन्योन्यनिष्ठा जब आदर्श कोटिको पहुंचती है तब वहींसे सच्ची समाज-सेवा शुरू होती है।

इस सब विवेचनका सार यह निकला कि "व्यक्तिगत विकासके लिये, कौटुम्बिक समाधानके लिये, सामाजिक कल्याणके लिये और आध्यात्मिक प्रगतिके लिये संयम और निष्ठा अत्यन्त आवश्यक हैं", और इसीलिये सामाजिक जीवनमें लैंगिक सदाचारका इतना महत्त्व है।

अब इस सदाचारका आत्यन्तिक स्वरूप क्या है, कौनसा स्वरूप तात्त्विक है और कौनसा सांकेतिक, यह विचार समय-समयपर करना पड़ता है। उसमें चन्द बातोंमें परिवर्तन भी आवश्यक हो, लेकिन इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि लैंगिक सदाचारके बिना समाज-सेवा निष्ठाके साथ हो नहीं सकती।

जिनका विकास एकांगी हुआ है अथवा जिनके जीवनमें विकृति आ गई है, उनसे भी कुछ-न-कुछ सेवा ली जा सकती है; लेकिन वे समाजके विश्वासपात्र सदस्य नहीं बन सकते। समाज निर्भयतासे उनकी सेवा नहीं ले सकता और ऐसे आदमीका विकास अशक्यप्राय होता है। उसकी प्रतिष्ठा नाममात्रकी रहती है।

विषय गम्भीर है। उसके पहलू भी असंख्य है और इनका शुद्ध विचार करनेकी पात्रता आजके अपूर्ण समाजमें पूरी-पूरी है भी नहीं, तो भी इस विषयको हम छोड़ भी नहीं सकते। लीपा-पोतीसे काम नहीं चलता। केवल रूढिको सम्हालकर हम समाजको सुरक्षित नहीं रख सकते और अनेक रूढियोंका तुलनात्मक अध्ययन किये बिना और उनका सार्वभौम समन्वय किये बिना हम सामाजिक प्रगति भी नहीं कर सकते। इसीलिये समय-समयपर मनुष्य-जाति-को इस सवालकी चर्चा करनी ही पड़ती है।

(मधुकर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म और नारी

(लेखक—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी)

स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर ही मानवसमाजकी सृष्टि करते हैं, दोनों ही उसके प्राकृतिक, अनिवार्य्य, अभिन्न अङ्ग हैं। एकसे दूसरे की पूर्णता और अस्तित्व है। दोनों ही समानरूपसे मनस्वी होनेके कारण प्राणि-वर्गमें सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं।

किन्तु जब मनुष्यजातिके सामाजिकजीवन, और विशेषतया स्त्रीपुरुष-संबंधपर दृष्टिपात किया जाता है तो यह बात सहज ही स्पष्ट होजाती है कि जीवनके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध क्षेत्रोंमें प्राय: सर्वत्र और सर्व समयोंमें अधिकांशत: पुरुषवर्गका ही प्राधान्य एवं नेतृत्व रहा है। इस बातका सर्वमान्य कारण भी सामूहिक रूपमें पुरुषजातिके शारीरिक एवं मानसिक शक्ति-संगठनका स्त्री-जातिकी अपेक्षा श्रेष्ठतर होना है। इस स्वाभाविक विषमताके फलस्वरूप जहाँ एक ओर पुरुषके आत्मविश्वासमें महती वृद्धि हुई, उसकी उद्यमशीलता और कार्यक्षमताको प्रोत्साहन मिला तथा उसका उत्तरदायित्व बढ़ा, वहाँ दूसरी ओर उसने अपनी सामूहिक, और जब अवसर मिला तब व्यक्तिगत शक्तिविशेषका भरसक अनुचित लाभ उठाया तथा स्त्रीजातिपर मनमाने अन्याय एवं अत्याचार किये। उसके मस्तिष्कमें यह ठूंसनेका अथक प्रयत्न किया कि वह पुरुषकी अपेक्षा हीन है, उसका स्थान गौण है, वह पुरुषके आधीन है—आश्रित है, उसकी विषयतृप्ति की—ऐहिक सुख भोगकी—एक सामग्री है, उसकी भोगैषणा की पूर्तिका साधनमात्र है अथवा उसका अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व है ही नहीं, जो कुछ यदि है तो वह पुरुषके ही व्यक्तित्व और अस्तित्वमें लीन होजाना चाहिये।

पुरुषकी नारी-विषयक इस जघन्य स्वार्थपरतामें उसका सबसे बड़ा सहायक रहा है धर्म! मनुष्यके जीवनमें धार्मिक विश्वासका प्रमुख स्थान रहता आया है। और जब जब, जातिविशेषके दुर्भाग्यसे, संयोगवश अथवा किन्हीं राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक कारणोंसे उक्त जातिमें बुद्धिमानों का अभाव, ज्ञान और विवेककी शिथिलता, तज्जन्य अज्ञान, अविवेक, रूढ़िवादिता एवं वहमोंका प्रस्तार-प्रभाव बढ़ जाता है तो उस जातिके नैतिक पतनके साथ साथ धर्मके गौण बाह्य क्रियाकाण्डों और ढोंगोंका प्राबल्य भी हो जाता है। विवेकहीन, विषयलोलुपी स्वार्थी धर्मगुरु और धर्मात्मा कहलाने वाले समाज-मान्य मुखिया समाजका नियन्त्रण और शासन करने लगते हैं, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वे अपनी टाँग अड़ाते हैं और मदाखलत बेजा करते हैं। उनके आदेश ही धर्माज्ञा होते हैं, वे जो व्यवस्था दे देते हैं उसका कोई अपील नहीं। धर्मके वास्तविक कल्याणकारी तत्वों एवं मूलसिद्धान्तोंकी वे तनिक भी पर्वाह नहीं करते, जानबूझकर अक्सर उनकी अवहेलना ही करते हैं और दुर्बल समाज मानसिक पराधीनताकी बेड़ियोंमें भी जकड़ जाता है। स्त्रीजाति पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक भावप्रवण होने और स्वयंमें हीनताका दृढ़ विश्वास (Inferiority complex) होनेके कारण, अपने ही लिये अधिक अपमानजनक, कष्टकर एवं अकल्याणकार ऐसी उन धर्मगुरुओंकी आज्ञाओंको श्रद्धापूर्वक बिना चूँचरा किये शिरोधार्य करनेमें सबसे अधिक उत्साह दिखाती है। और इसीलिये एक पाश्चात्य विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—"clergy have been the worst enemies of women, whmen are their best friends." अर्थात् धर्मगुरु स्त्रियोंके सबसे बड़े शत्रु रहे हैं और स्त्रियाँ उनकी सबसे बड़ी मित्र रही हैं'। फलस्वरूप किसी भी सभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य, पाश्चात्य, पौर्वात्य, प्राचीन, अर्वाचीन मनुष्यसमाजका इतिहास उठाकर देखिये, किसी न किसी समाजकी थोड़े या अधिक काल तक, उसके पुरुषवर्ग तथा वैसे धर्मगुरुओंने, चाहे किसी भी धर्मविशेषसे उनका संबंध क्यों न रहा हो, स्त्रीजातिके प्रति अपनी तीव्र असहिष्णुताका परिचय दिया ही है। उन सबने ही अपने अपने धर्मगुरुओंकी आड़ लेकर

उसके प्रति अपना विद्वेष और उसपर पुरुषजातिका सर्वाधिकार चरितार्थ किया है। उदाहरणार्थ:—

ईसाइयोंकी बाइबिलमें नारीको सारी बुराइयोंकी जड़ (root of all evil) कहा है, ईसाई धर्मयाजकोंने उसे शैतानका दरवाजा (Thou art the devil's gate!) कहकर पुकारा है। छठी शताब्दी ईस्वीमें ईसाई धर्मसंघने यह निश्चित किया था कि स्त्रियोंमें आत्मा नहीं होती।

इस्लाम धर्मकी कुरानमें स्त्रियोंका ठीक ठीक क्या स्थान है, यह बात समझाकर बतलाना कठिन है। हानबेक और रिकाट (Hornbeck. Ricaut) आदि ग्रंथकारोंका तो यह कहना है कि मुसल्मानोंके मतसे भी नारीके आत्मा नहीं होती और नारियोंको वे लोग पशुओंकी तरह समझते हैं। उत्तर कालीन वैदिक धर्ममें स्त्रियोंको शास्त्र सुनने तकका अधिकार नहीं है (स्त्री न श्रुतिगोचरा), मनु आदि स्मृतिकारोंने स्पष्ट कथन किया है कि स्त्रियाँ जनने और मानव-सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही बनाई गई हैं*। अन्य हिन्दु पौराणिक ग्रन्थोंमें भी नारीको पतिकी दासी, अनुगामिनी, पूर्णत: आज्ञाकारिणी रहने और मन-वचन-कायसे उसकी भक्ति करने+ तथा उसकी मृत्यु पर जीवित ही चितापर जलकर सहमरण करनेका विधान किया गया है। मध्यकालीन प्रसिद्ध हिन्दु धर्माध्यक्ष शंकराचार्यने नरकका द्वार (द्वारं किमेकं नरकस्य नारी) घोषित किया है। और नीतिकारोंने तो 'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः' कह कर उसके चारित्रको यहाँ तक संदिग्ध, रहस्यमय अथवा अगम्य बतलाया है कि उसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या, देवता भी जान नहीं पाते!

बौद्धभिक्षु सुमन वात्स्यायनके अनुसार बुद्धकालीन समाज स्त्रियोंको इतनी हेय और नीच दृष्टिसे देखता था कि सर्व प्रथम जब बुद्धकी मौसी और मातृवत् पालन पोषण करने वाली प्रजापति गौतमीके नेतृत्वमें स्त्रियोंने संघमें शामिल होनेकी बुद्धसे प्रार्थना की तो उन्हें हिचकिचाहट हुई। इसे स्त्रियोंके प्रति बुद्धकी दुर्भावना ही समझा जाता है। बुद्धने उन्हें पहले गृहस्थ ही में रहकर ब्रह्मचर्य और निर्मल-जीवन द्वारा अन्तिम फल पानेके लिये उत्साहित किया; बादको जब परिस्थितियोंसे विवश होकर भिक्षुणी संघ बनानेका आदेश भी दिया तो उसके नियमोंमें भिक्षु संघसे भेद भी किये, जिन्हें देशकाल और परिस्थितियोंके कारण आवश्यक बताया जाता है। बुद्धने भी स्त्रियोंकी निन्दा की ही है और पुरुषोंको उनसे सचेत रहनेका आदेश दिया है। वस्तुत:, श्रीमती सत्यवती मल्लिकके शब्दोंमें× "जातक ग्रन्थों एवं अन्य बौद्ध साहित्यमें अनेक स्थलोंपर नारीके प्रति सर्वथा अवांछनीय मनोवृत्तिका उल्लेख है।" बौद्धप्रधान चीनदेशकी स्त्रियोंकी दुर्दशाकी कोई सीमा नहीं है और उन्हीं जैसी अवस्था जापानकी स्त्री जातिकी थी, किन्तु जापान अपनी स्त्रियोंका स्थान उसी दिनसे उन्नत कर सका जिस दिनसे अपनी सामाजिक रीति-नीतिके अच्छे बुरेका विचार वह धर्म और धर्म-व्यवसायियोंके चंगुलसे बाहिर निकाल सका।

जैन धार्मिक साहित्यकी भी, चाहे वह श्वेताम्बर हो अथवा दिगम्बर, प्राय: ऐसी ही दशा है। श्वेताम्बर आगम-साहित्यके प्राचीन प्रतिष्ठित 'उत्तराध्ययन' सूत्रमें एक स्थानपर लिखा है कि स्त्रियाँ राक्षसनियाँ हैं, जिनकी छातीपर दो मासपिण्ड उगे रहते हैं, जो हमेशा अपने विचारोंको बदलती रहती हैं, और जो मनुष्यको ललचाकर उसे गुलाम बनाती हैं। इस सम्प्रदायके अन्य ग्रन्थोंमें भी ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं। पांचवें अङ्गसूत्र भगवतीके (शतक ३-७) देवानन्द-प्रसंगमें चीनांशुक, चिलात और पारसीक देशकी दासियोंका, ज्ञाताधर्मकथाङ्गके मेघकुमार-प्रसंगमें १७ विभिन्न देशोंकी दासियोंका तथा उववाइ सूत्रमें भी अनेक देशोंकी दासियोंका उल्लेख है। इसी भाँति दिगम्बर साहित्य भी स्त्री निन्दा-परक कथनोंसे अछूता नहीं रहा है।

---

* प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः (मनु ६-९६)
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥ (मनु० ६-२७)

+१ वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसे हु पतिकर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय बचन मन पति-पद प्रेमा।
(रामचरितमानस)

२ विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित:।
उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति:॥(मनु०५-१५४)

× प्रेमीअभिनन्दनग्रंथ पृ० ६७२—(भारतीय नारीकी बौद्धिकदेन

वास्तवमें संसारके प्रत्येक देश, जाति धर्म संस्कृति और सभ्यताके अतीत इतिहास एवं वर्तमान वस्तुस्थित परसे ऐसे अनगिनत उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे कि उनमें स्त्रीजातिपर पुरुष जातिके अत्याचार और अन्याय का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। क्या प्राचीन भारत, चीन, मिश्र, बेबिलोनिया, सुमेरिया, यूनान और रोम, क्या अर्वाचीन युरोप, अमेरिका और एशिया अथवा अफ्रीका, अमेरिका, पूर्वी पश्चिमी द्वीपसमूहों तथा अन्य स्थानोंकी अर्धसभ्य, असभ्य जातियाँ सभीने धर्मतः, कानूनन अथवा रिवाजन, न्यूनाधिकरूपमें नारीको पुरुषकी सम्पत्ति, उसके स्वत्वाधिकारकी वस्तु और एक उपभोग्य सामग्री समझा है। और कोई भी धर्म इस बातका दावा नहीं कर सकता कि उसके किसी भी धर्मगुरुने कभी भी स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा हीन नहीं समझा, उसकी उपेक्षा और निन्दा नहीं की।

किन्तु इतनेपर भी यह प्रायः देखनेमें आता है कि प्रत्येक धर्मके अनुयायी दूसरे धर्मोंकी निन्दा इस बातको लेकर करते हैं कि उनमें स्त्री जातिके प्रति अन्याय किया गया है। अपने धर्मकी विशेषताओं, अच्छाइयों और खूबियोंको संसारके सामने रखनेमें कोई दोष नहीं है, किन्तु यदि दूसरोंकी कोरी निन्दा और छीछालेदर करके मुकाबलेमें स्वधर्मकी श्रेष्ठता स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाता है तो वह अवश्य ही अनुचित एवं निन्दास्पद कहा जायगा, और विशेषकर जबकि वैसी बुराइयोंसे अपना वह धर्म अथवा उसका साहित्य और संस्कृति भी अछूती न बची हो! परन्तु हो यही रहा है। इस विज्ञापन-प्रधान युगकी विज्ञापनबाजी का प्रवेश धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रमें भी खूब कराया जारहा है। 'धर्मदूत' वर्ष ११ अंक २-३ पृष्ठ २३ पर एक बौद्धविद्वान्का लेख 'बुद्ध और नारीसमाज' शीर्षकसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें बौद्धेतर हिन्दू, जैन आदि धर्मोंमें नारीकी हीनावस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए बौद्धधर्ममें उसका स्थान अपेक्षाकृत श्रेष्ठ एवं न्यायपूर्ण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार 'प्राचीनभारत' चैत्र १९९७ पृ० १५९ पर डा० एस० मुकर्जीका लेख 'जैनधर्ममें नारी का स्थान' शीर्षकसे प्रकट हुआ था। विद्वान् लेखकने स्वयं अजैन होते हुए भी यह लेख, संभवतया किसी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिसे अभिभूत महाशयकी प्रेरणापर, श्वेताम्बर दृष्टिकोणसे लिखा है। इस लेखमें यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है कि जैनधर्मके श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय बहुत अनुदार, संकीर्ण और अविवेकी है; क्योंकि उसमें स्त्रीमुक्तिका निषेध किया है, जबकि श्वेताम्बर संप्रदाय में उसका विधान है। लेखकने दिगम्बर सम्प्रदायके संबंधमें कितनी ही भ्रमपूर्ण, निस्सार एवं अयथार्थ बातें लिखकर अपने मतकी पुष्टि करनी चाही है। और प्रसंगवश, हिन्दूधर्ममें नारीकी सम्मानपूर्ण श्रेष्ठताका भी प्रतिपादन कर दिया है!!

वास्तव में स्त्रीमुक्तिका प्रश्न जैनधर्मकी एक गौण सैद्धान्तिक मान्यतामात्र है इस मान्यताका प्रारम्भ और इतिहास बहुत कुछ अंधकारमें है, और वर्तमान वस्तुस्थिति पर इसका कुछ भी असर नहीं पड़ता। किन्तु फिर भी इसी प्रश्नको लेकर दोनों सम्प्रदायोंके बीच काफ़ी खींचतान और और एक प्रकारका कल्पित भेद खड़ा किया जाता है। दोनों ही सम्प्रदायोंके कितने ही विद्वान इस प्रश्नके पक्ष-विपक्षका प्रतिपादन करनेमें अपनी शक्ति और समयका व्यर्थ दुरुपयोग करते देखे जाते हैं। यूरोपीय तथा भारतीय अजैन विद्वानोंको जैनधर्मका जो परिचय दिया गया—और प्रारंभ में तथा अधिकांश में वह परिचय श्वेताम्बर बंधुओं द्वारा दिया गया—उसमें भी उन्होंने प्रायः इसी बातपर जोर दिया कि श्वेताम्बर स्त्रीमुक्ति मानते हैं दिगम्बर नहीं मानते, दोनों सम्प्रदायोंमें यही मुख्य भेद है। अतः अजैन विद्वानोंकी जैनधर्म-सम्बन्धी रचनाओंमें इसी मान्यताका विशेष रूपसे उल्लेख मिलता है। जैनसिद्धान्त और साहित्यका गम्भीर अध्ययन करनेके उपयुक्त साधनों और अवकाशके अभावमें वे इन सांकेत संकेतोंपर ही संतोष कर बैठे हैं।

वस्तुतः दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही इस विषयमें बिल्कुल एकमत हैं कि भगवान महावीरके निर्वाणके ३-४ वर्ष बाद ही, जैनकालगणनानुसार, चौथे कालकी समाप्ति होगई थी। इसके बाद पंचमकाल शुरू हुआ जिसकी अवधि २१००० वर्ष है, उसके बाद २१००० वर्षका छठा काल आयेगा, फिर उतने ही वर्षोंका उत्सर्पिणीका छठा काल आयेगा, उसके पश्चात् उतने ही वर्षोंका पंचमकाल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आयेगा और तत्पश्चात् चौथा काल चलेगा। अर्थात् गत चतुर्थकालकी समाप्ति और भावी चतुर्थकालके प्रारम्भके बीचमें ८४००० वर्षका अन्तर है और मोक्ष चौथे कालमें ही होती है। इसका यह अर्थ है कि पिछले कोई ढाई हजार वर्षोंमें (ठीक ठीक २४१० वर्ष में) किसी भी स्त्री या पुरुष ने परममुक्ति प्राप्त नहीं की और न आगे करीब ८१५०० वर्ष तक वैसा करना संभव है। आज कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जो गत २५०० वर्षकी अपनी प्रमाणिक शृङ्खला बद्ध वंशपरम्परा बता सके अथवा इस बातकी गारंटी कर सके कि आगामी ८१५०० वर्षतक उसकी वंशजपरम्परा अविच्छिन्न चलेगी। दोनों ही बातें मानवके सीमित ज्ञानकी परिधि के बाहर हैं, १प्राग्ऐतिहासिकता, २अनागत सुदूर भविष्यकी। अतएव कोई भी व्यक्ति वर्तमानमें यह कह ही नहीं सकता है कि उसके अमुक निजी पूर्वजने मुक्ति प्राप्त की या वह स्वयं कर सकता है, अथवा उसका कोई भी निजी वंशज कर सकेगा। तब विवाद किस बातका? और स्त्रीमुक्ति के प्रश्नको लेकर व्यर्थकी माथापच्ची किस लिये?

जहाँ तक प्रश्न आत्मकल्याणका है, आत्मोन्नति और आत्मीय गुणोंके विकासका है अथवा सच्चारित्र, सदाचार, शील-संयम आदिके पालन, धर्मका साधन और धार्मिक उसूलोंपर आचरण करके अपने और दूसरोंके लिये इहलौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने-कराने तथा अपना परमार्थ सुधारने और अपने लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करनेका है वह जैनधर्मके अनुसार, आज भी प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, जैन हो या अजैन, समान रूपसे अपनी अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार पूरी तरह कर सकता है। कोई भी धार्मिक मान्यता उसमें बाधक नहीं, और न धर्मानुकूल कोई रिवाज या सामाजिक नियम ही उसमें किसी प्रकारकी रुकावट डालता है। जैनधर्मका इतिहास, जैन समाजकी जीवनचर्या और जैनसाहित्य इसके साक्षी हैं। दिगम्बर जैनआगम ग्रन्थोंका संकलन और लिपिबद्ध होना तथा उनके स्वतंत्र धार्मिक साहित्यकी रचनाका प्रारंभ भगवान महावीरके निर्माणके लगभग ५०० वर्षके भीतर ही (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्वमें) होगया था और श्वे० जैनआगम साहित्यका भी संकलन व लिपिबद्ध होना तथा स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका प्रारम्भ उनके लगभग एक हजार वर्ष बाद (५ वीं शताब्दी ईस्वीके अन्तमें) हो गया था। उसके पश्चात विभिन्न भाषाओंमें विविध-विषयक उच्चकोटिके विपुल जैनसाहित्यकी रचना हुई, जिसके प्रणयन और प्रचारमें जैनस्त्रियों और पुरुषों सभीने योग दिया है*।

स्त्रीमुक्तिको मानने या न माननेसे भी उभय सम्प्रदायोंमें नारीकी स्थितिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। आम्नाय-भेद रहते हुए भी श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंका सामाजिक जीवन, आचारविचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज प्रायः एकसे हैं दोनोंके अनुयायियोंमें परस्पर आदान-प्रदान, रोटी बेटी व्यवहार भी होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नारीकी स्थिति और अवस्था दिगम्बर सम्प्रदायकी अपेक्षा किसी अंशमें भी श्रेष्ठतर नहीं रही है और न है। बल्कि दिगम्बर सम्प्रदायकी स्त्रियाँ ही प्रायः करके अधिक सुशिक्षित, सुसंस्कृत और धर्मपालनमें स्वतन्त्र रहती आई हैं, और आज भी हैं। जबकि श्वेताम्बर गृहस्थ पुरुषोंको भी आगम ग्रन्थोंके अध्ययन करनेकी मनाई है दिगम्बर समाजकी स्त्रियाँ सभी सभी शास्त्रोंका अभ्यास करती हैं, शास्त्रोपदेश भी देती हैं। श्रवण बेलगोलके शिलालेखोंसे पता चलता है कि वे मुनिसंघों की अध्यापिका तक रही हैं+। श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध दार्शनिक रत्नप्रभाचार्यने अपनी समकालीन दिगम्बर साध्वियोंके सम्बन्धमें स्वयं कहा

* कर्णाटककी कान्ति नामक दि० जैन-महिला-कवि छन्द, अलङ्कार, काव्य, कोष, व्याकर आदि नाना ग्रन्थोंमें कुशल थी। बाहुबलि कविने इसकी बहुत बहुत प्रशंसा करके इसे 'अभिनव वाग्देवी' की पदवी दी थी। द्वार-समुद्रके बल्लालराजा विष्णुवर्धनकी सभामें महाकवि पंप और कान्तिका विवाद हुआ था। कन्नड़-कवि-चक्रवर्ती रन्नकी पुत्री अतिमब्बे भी परम विदुषी थी, उसीके लिये रन्नने अजित पुराणकी रचनाकी थी। सेनापति मल्लपकी पुत्री अत्तिमब्बेने उस युगमें जबकि छापेका आविष्कार नहीं हुआ था, पोन्नकृत शान्तिपुराणकी १००० हस्त लिखित प्रतिलिपियें कराकर वितरणकी थीं। इस प्रकारके और भी अनेक उदाहरण जैनइतिहासपरसे दिये जा सकते हैं।

+ प्रेमी अभिनन्दन ग्रं० पृ० ६८६; तथा जैन शिलालेख-संग्रह २३, २७, २८, २९, ३५.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि कई परिव्राजकाएँ सिर मुंडन कर, मोरपंख और कमंडल लिये तपस्या किया करती थीं।' उनके पर्यटन और स्वतंत्र विहारमें कोई रुकावट न थी, जबकि श्वेताम्बर आर्यिकाएँ प्रायः उपाश्रयोंमें ही रहती हैं।

वास्तवमें, आज जितना धर्मसाधन, आत्मकल्याण और अपने व्यक्तित्वका विकास एक पुरुष कर सकता है उतना ही एक स्त्री भी कर सकती है, इस विषयमें दोनों ही सम्प्रदायोंमें कोई मतभेद नहीं है। और साथ ही एक पुरुष भी यदि वह कुशील है, चारित्र्यहीन है। अपङ्ग अपाहज या शक्ति-सामर्थ्यहीन है तो वह भी कभी सर्वोच्च पदकी प्राप्ति उसी जीवनमें नहीं कर सकता, इस कार्यकी सफलताके लिये तो सर्वाङ्ग सर्वश्रेष्ठ शारीरिक मानसिक संगठन तथा सर्वोत्तम चारित्र, पूर्ण वीतरागताका होना अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँ तक धर्मसाधन और स्त्री-पुरुष सम्बन्धका प्रश्न है, उस विषयमें किसी अन्य धर्मने स्त्री पुरुषके बीच कोई भेद भले ही किया हो, किन्तु जैनतीर्थङ्करों और धर्माचार्योंका दृष्टिकोण सदैवसे बहुत ही उदार एवं साम्यवादी रहा है। उन्होंने मोक्ष प्राप्तिका आधार किसी व्यक्ति या शक्ति विशेष की अनुकम्पा, अनुग्रह अथवा प्रसन्नताको नहीं रक्खा, वरन् प्रत्येक व्यक्तिके अपने स्वयंके किये कर्मों, पुरुषार्थ और आचरणोंके ऊपर उसे अवलम्बित किया है। इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वोपार्जित कर्मके अनुरूप ही अपनी भावी अवस्था और स्थितिका स्वयं ही निर्माण करता है। उसका भविष्य और उस भविष्यका बनाना बिगाड़ना उसके अपने आधीन है, दूसरे किसीका उसमें कोई दखल नहीं। इतना ही नहीं, वह सद्धर्माचरण, तप-संयम, तथा क्रोधादि कषायोंकी मन्दतारूप अपने वर्तमानमें किये सदुद्योगों द्वारा पूर्वोपार्जित दुष्कर्मोंके अशुभ फलमें भी परिवर्तन कर सकता है, कभी कभीके पिछले बंधे कर्मोंका भी नाश कर सकता है, और अपने लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अहिंसाके स्व-पर-हितकारी आचरणसे और स्याद्वादात्मक अनेकान्त दृष्टिसे उत्पन्न सहिष्णुता और सहनशीलतासे वह न सिर्फ अपने व्यक्तिगत जीवनको ही वरन् समस्त सामाजिक एवं राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय जीवनको भी सुख और शान्ति पूर्ण अवश्य ही बना सकता है। और ये बातें स्त्री तथा पुरुष दोनोंके लिये समान रूपसे लागू होती है। जैनाचार्योंने 'वस्तुके स्वभाव' को धर्म कहा है अर्थात् जो जिस चीजका स्वभाव होता है—उसका निजी गुण होता है—वही उसका धर्म है। आत्माकी जो असलियत है, उसके जो परानपेक्ष वास्तविक निजी गुण हैं वही सब उसका धर्म है, उसकी मौजूदगीमें ही उसे सच्चा सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जिन जरियोंके द्वारा या जिस मार्गपर चलकर आत्मा अपने उस असली स्वभावको प्राप्त होता है व्यवहारमें, उस मार्ग या जरियोंको ही धर्म कहते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यके अनुसार इस धर्मका कार्य प्राणियोंको दुःखसे निकालकर सुखमें धारण करना है*। स्त्री और पुरुष दोनोंकी ही आत्माएँ समान हैं, उनके आत्मिक गुण और स्वभाव बिलकुल यकसाँ हैं, उनमें तनिकसा भी अन्तर नहीं होता। दुःख और सुखका अनुभव तथा दुःखसे बचने और सुख प्राप्त करनेकी इच्छा भी दोनोंमें बराबर है अपने धर्म अर्थात् स्वभावको हासिल करनेका दोनोंको समान अधिकार है, और उस धर्मके साधनमें दोनों ही समान रूपसे स्वतन्त्र हैं। ऐसी जैनमान्यता है और इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय पूर्णतया एकमत हैं।

धर्मके आदिप्रवर्तक प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवने भोगप्रधान अज्ञानी मानव समाजमें सभ्यताका सर्व प्रथम संचार किया था, उन्होंने उसे कर्म करनेके लिये प्रोत्साहित किया, विविध शिल्पों और कलाओंकी शिक्षा दी, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था स्थापितकी। उन आदिपुरुषने अपने अनेक पुत्रोंके साथ साथ अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरीको भी विशेषरूपसे शिक्षा-दीक्षा दी थी। कुमारी ब्राह्मीके लिये ही सर्वप्रथम लिपिकलाका आविष्कार किया था, और इसीलिये भारतवर्षकी प्राचीनतम लिपि 'ब्राह्मी' कहलाई—ऐसी जैन अनुश्रुति है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें उल्लेखित चक्रवर्ति नरेशोंकी पत्नियाँ इतनी शक्तिमती होती थीं कि वे अपनी कोमल अंगुलियोंसे वज्रसदृश रत्नों (हीरे जवाहरात आदि) को चूर्ण करदेती थीं और अपने पतियोंकी विजययात्राके उपलक्षमें उस चूर्णसे चौक पूरती थीं। ब्राह्मी, अंजना, सीता, मैना, राजुल,

* संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।—र.क.श्र. १-२

सुलोचना, चन्दना, चेलना आदि अनेक सती साध्वी, आदर्श गृहस्थ तथा दीक्षा के पश्चात् परम तपस्विनियोंकी यशोगाथासे जैनपुराण व चारित्र ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इन देवियोंने अपना स्वयंका तो कल्याण किया ही, अपने सम्पर्कमें आनेवाले अनेक पुरुषोंका भी उद्धार किया है। जब उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने आत्मसाधन करनेकी ठानी तब ही पति, पुत्र, परिजन, घर सम्पत्ति, भोग ऐश्वर्य सब ठुकराकर, तपस्विनी बन वनका मार्ग लिया; पतिका कोई अधिकार या राज्य अथवा समाजका कोई कानून उन्हें ऐसा करनेसे न रोक सका।

ऐतिहासिक कालमें ही, जैसा कि एक विद्वानका कथन है*, हमारे देशमें जब उन्नति हो रही थी तब स्त्रियोंका खूब आदर था और वे शिक्षिता थीं। भगवान महावीरके पिता अपनी पत्नीका कैसा आदर करते थे यह निम्न श्लोकसे स्पष्ट है:—

आगच्छन्ती नृपो वीक्ष्य प्रियां संभाष्य स्नेहतः।
मधुरैर्वचनैस्तस्यै ददौ स्वार्धासनं मुदा ॥

अर्थात्—राजा (सिद्धार्थ) ने अपनी प्रियाको दर्बारमें आते देखकर उनसे मधुर वाक्योंमें प्रेमपूर्वक आलाप किया और प्रसन्न होते हुए उन्हें अपना आधा सिंहासन बैठनेको दिया, जिसपर वे जाकर बैठीं।

स्वयं भगवान महावीरने अपने ६ महीनेके उपवासके पश्चात् जो पारणा किया (आहार ग्रहण किया) वह बेड़ियोंमें जकड़ी अति दीन हीन चन्दनाके अधकचरे साबुत उड़दों जैसे तुच्छ खाद्यका था। अनेक राजा एवं धनिक श्रेष्ठी उन्हें उस समय श्रेष्ठ सुस्वादु भोजन करानेके लिये लालायित थे! भ० महावीरने स्त्रियोंको जिनदीक्षा देनेमें म० बुद्ध जैसी हिचकिचाहट नहीं की सती चन्दनबालाके नेतृत्वमें, मुनिसंघके साथ ही साथ, आर्यिकासंघका भी निर्माण किया। वास्तवमें जैनआर्यिकासंघका यह निर्माण बौद्ध भिक्षुणी संघसे पहिले हो चुका था। भ० महावीरके अनुयायियोंमें मुनियोंकी अपेक्षा आर्यिकाओंकी और श्रावकोंकी अपेक्षा श्राविकाओंकी संख्या कई गुनी अधिक थी+। उनकी समवसरण सभामें स्त्री पुरुषोंको साथ साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनने और अपना २ आत्मकल्याण करनेका समान अवसर प्राप्त था।

व्यवहारिक दृष्टिसे, जैनस्त्रियोंने धार्मिक तथा लौकिक दोनों ही क्षेत्रोंमें, अपनी हीनताका अनुभव कमसेकम जैनधर्मके कारण कभी नहीं किया। मध्यकालीन भारतमें, विशेषकर दक्षिण प्रान्तमें जहाँकि उस युगमें जैनधर्मका अत्यधिक प्रभाव एवं प्रचार था जैनस्त्रियोंने स्वयं राज्य किया, राज्यकार्यमें अपने पति पुत्रादिकोंको सक्रिय सहयोग दिया, सैन्यसञ्चालन किया, ग्रन्थ निर्माण किये कराये, साहित्य प्रचार किया, धर्मप्रचार किया, मन्दिर आदि निर्माण कराये, धर्मोत्सव और प्रतिष्ठायें कराईं, श्राविका और आर्यिका संघोंका नेतृत्व किया, अध्ययन किया, उपदेश दिये, तपस्यायें कीं, समाधिमरण किये इत्यादि×।

जैनधर्मके अनुसार, पत्नी अपने पतिके धर्मकार्यों और पुण्य प्रवृत्तियोंमें तो सहायक हो सकती है किन्तु वह उसके अधर्माचरण और पाप प्रवृत्तियोंमें सहयोग देने या उनमें उसका अनुगमन करनेके लिये कतई बाध्य नहीं है। बिल्वमंगल जैसे उदाहरण जैन संस्कृतिमें नहीं मिलेंगे और

* जैन हितैषी वर्ष ११ अंक ३ पृ० १८६

\+ अनेकान्त वर्ष ३ कि० १ पृ० ४५ सौ० इन्दुकुमारीका लेख 'वीरशासनमें स्त्रियोंका स्थान'।

× (i) Dr. Saletore—Mediaeval Jainism, ch. V—'Women as defenders of the Faith'.

(ii) Dr. B. C. Law—'Distinguished men and women in Jainism'—Indian Culture Vol. II & III.

(iii) श्री त्रिवेणी प्रसाद—'जैन महिलाओंकी धर्मसेवा'-जै० सि० भा० ८-२ पृ० ६१

(iv) पंडित चन्दाबाई जैन—'धर्मसेविका प्राचीन जैन-देवियाँ'—प्रे० अ० ग्रंथ पृ० ६८४

(v) मथुराके प्राचीन जैनपुरातत्वमें अनेक जैनमहिलाओंकी जिनमें गणिकायें तक भी सम्मिलित हैं, धर्म-सेवाके उल्लेख मिलते हैं।

(vi) सागर और मलयाचलके बीच, दक्षिणस्थ वेणुर देशमें अजिलवंशकी जैनरानी पदुमला देवीने सन् १६८३ से १७२१ तक राज्य किया—अनेकान्त २-७ पृ० ३८४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पतिके लिये सहमरण करनेको तो जैनधर्ममें महापातक माना है। यहाँ स्त्री पतिकी सम्पत्ति नहीं है और न उसके भोगकी सामग्री मात्र ही उसका स्वयंका दायित्व भी है और उसका उत्तराधिकार भी स्वतन्त्र है। वह अपने घरकी स्वामिनी है, और अपना नैतिक उत्कर्ष एवं आत्म-कल्याण करनेमें किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। जैनधर्ममें कन्या हिन्दु धर्मकी भाँति दान देनेकी वस्तु भी नहीं है। जैनविवाहपद्धतिके अनुसार कन्यादान नहीं किया जाता, उसमें कन्या द्वारा पतिका वरण ही होता है, और उसके साथ सप्तपदीके रूपमें कुछ शर्तें भी होती हैं जिनके पालन करनेकी वरको प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। इसप्रकार जैन-संस्कृतिमें नारीका स्थान सुनिश्चित् एवं सम्मानपूर्ण है*।

आत्मसाधनके हित संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेका उपदेश सभी धर्मोंके आचार्योंने दिया है, और स्त्री जातिके भी पुरुषके इन्द्रिय भोगोंका एक प्रधान साधन होने तथा नारीके प्रति उसकी विषयासक्तिके उसकी आत्म-कल्याणमें रुचि होनेके मार्गमें एक भारी रुकावट होनेके कारण आत्मार्थी पुरुषके लिये उसे घृणित, निन्दनीय एवं त्याज्य प्रदर्शित किया है। ठीक इसी वृत्तिसे प्रेरित होकर, निवृत्ति प्रधान जैनधर्मके ब्रह्मचर्यव्रतधारी, निस्पृह, अपरि-ग्रही, ज्ञानध्यानतप लीन निर्ग्रंथ साधुओंने आत्मकल्याण साधनमें स्त्रीप्रसंग द्वारा होने वाले दोषों और बाधाओंपर प्रकाश डाला है, और प्रसंगवश स्त्रीजातिकी बहुत कुछ निन्दा भी की है। किन्तु इसपर भी, इन जैनाचार्योंकी एक भारी विशेषता यह रही है कि कथन करनेकी भाषा संबंधी सुविधाके लिये ही ऐसे कथन प्राय: पुरुषपक्षसे किये गये हैं और इसीलिये उनमें विपक्षी स्त्रीजातिके संसर्गकी निन्दा की गई है, किन्तु उक्त कथन समान रूपसे स्त्रीपक्षमें पुरुष जातिके लिये भी उपयुक्त समझने चाहियें। उदाहरणार्थ, दिगम्बर जैनाचारके प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ 'भगवती आराधना' (आश्वास ६, गाथा ९९१-१००२) में सन् ईस्वी पूर्वके प्रथम शताब्दीमें होने वाले आचार्य शिवार्यने स्पष्ट कथन किया है कि —

ऊपर कहे हुए दोष स्त्रियोंमें हैं, उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे उसे भयानक दीखेंगी और उसका चित्त उनसे लौटेगा ही। किन्तु नीच स्त्रियोंमें जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषोंमें भी रहते हैं, इतना ही नहीं, स्त्रियोंकी अपेक्षा उनकी अज्ञादिकोंसे उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष रहते हैं। शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषोंको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे ही शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निंदनीय अर्थात् त्याज्य हैं। संसार शरीर भोगोंसे विरक्त मुनियोंके द्वारा स्त्रियाँ निन्दनीय मानी गई हैं, तथापि जगतमें कितनी ही स्त्रियाँ गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेके कारण मुनियोंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं. उनका यश जगतमें फैला है, ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य लोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं, देव उनको नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण बलभद्र और गणधरा-दिकोंको जन्म देने वाली स्त्रियाँ देव और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति हैं उनके द्वारा वन्दनीय होगई हैं। कितनी ही स्त्रियाँ एक पतिव्रत धारण करती हैं, कितनी ही आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती हैं, कोई कोई स्त्रियाँ वैधव्यका तीव्र दु:ख भी आजन्म धारण करती हैं। शीलव्रत धारण करनसे कितनी स्त्रियोंमें शाप देने और अनुग्रह करनेकी भी शक्ति प्राप्त होगई थी, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है देवताओंके द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे महात्म्य भी दिखाया गया है। ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको जलप्रवाह भी बहानेमें असमर्थ हैं, अग्नि भी उनको जला नहीं सकती, शीतल हो जाती है, ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादि प्राणी भी नहीं खा सकते और न अन्य स्थानमें उठाकर फेंक सकते हैं। सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी श्रेष्ठ तद्भवमोक्षगामी पुरुषोंको कितनी ही शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है। मोहके उदयसे जीव कुशील बनते हैं, मलिन स्वभावके धारक बनते हैं, और यह मोहका उदय सब स्त्रीपुरुषोंमें समान रीतिसे है। जो पीछे स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियों-के साथ सम्बंध नहीं रखता अर्थात् वह सब वर्णन कुशील

* Also see Prof. Satkori Mukerji's article—'The status of women in Jain religion" और 'जैनधर्मेर नारीर स्थान, रूपनन्दा पौष १३४४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियोंके विषयमें ही समझना चाहिये, क्योंकि शीलवती स्त्रियाँ गुणोंका पुञ्ज स्वरूप ही हैं, उनको दोष कैसे छू सकते हैं।"

अपराजित सूरि (८ वीं शताब्दी), आचार्य जयनन्दि (१० वीं शताब्दी) पं० आशाधरजी (१३ वीं शताब्दी) इत्यादि विद्वानोंने शिवार्यके उपर्युक्त कथनका समर्थन किया है। जैन योगके प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानार्णवमें आचार्य शुभचन्द्रने कहा है – 'अहा ! इस संसारमें अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो शमभाव (मन्दकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलक भूत हैं, उसे शोभायमान करती हैं तथा शास्त्राध्ययन और सत्यभाषणसे अलंकृत है।' तथा 'अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं जो अपने सतीत्व, महत्व, चारित्र, विनय और विवेकसे इस पृथ्वीतलको भूषित करती हैं।' 'महापुराण'में जिनसेन स्वामीने गुणवती नारीको स्त्री सृष्टिमें प्रमुखपद प्राप्त करने वाली बताया है (नारी गुणवती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्)। गुणभद्राचार्य कृत 'आत्मानुशासन' की टीकामें, अनुदार एवं स्थितिपालक कहे जाने वाले दलके एक आधुनिक विद्वानका कथन है कि+—'... पुरुषोंको मुख्य मानकर उनको संबोधन कर यह उपदेश दिया गया है किन्तु स्त्रीके लिये जब यह उपदेश समझना हो तब ऐसा अर्थ करना चाहिये कि स्त्रियाँ कुत्सित व्यभिचारी पुरुषोंके संबंधसे व्यसनोंमें आसक्त होकर आत्महितसे वंचित रहती हुई अनेक पाप संचित करके क्या नरकोंमें नहीं पड़ती ? अवश्य पड़ती है, और उनको नरकोंमें डालनेमें निमित्त वे पुरुष होते हैं। इसलिये वे पुरुष उन्हें नरकके घोर दुःखोंमें प्रवेश करानेके लिये उघड़े हुए विशाल द्वारके समान हैं। ······ गृहधर्ममें स्त्रियोंके द्वारा पुरुषोंको जो अनेक उपकार मिलते हैं उनके बदलेमें वे पापी पुरुष हैं कि जो उनको नरकोंमें डालकर उनका अपकार करने वाले हैं।'

इस प्रकार स्त्री जातिके संबंधमें जैनधर्म और जैनाचार्यों की नीति एवं विचार स्पष्ट हैं और वे किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं।

+ जै० ग्र० र० कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित—आत्मानुशासनकी पं० वंशीधर कृत हिन्दी टीका पृ० ६५

इतनेपर भी, इस विषयमें सन्देह नहीं है कि पुरुषजाति ने धर्म जैसी पवित्र और सर्वकल्याणकारी वस्तुके नामपर भी स्त्री जातिके साथ अन्याय किये ही हैं। वस्तुतः, जैसा कि बंगीय साहित्य महारथी स्व० शरत् बाबूने कहा है*— 'समाजमें नारीका स्थान नीचे गिरनेसे नर और नारी दोनों का ही अनिष्ट होता है और इस अनिष्टका अनुसरण करनेसे समाजमें नारीका जो स्थान निर्दिष्ट हो सकता है, उसे समझना भी कोई कठिन काम नहीं है। समाजका अर्थ है नर और नारी। उसका अर्थ न तो केवल नर ही है और न केवल नारी ही है।" तथा "सुसभ्य मनुष्यकी स्वस्थ संयत तथा शुभबुद्धि नारीको जो अधिकार अर्पित करनेके लिये कहती है वही मनुष्यकी सामाजिक नीति है, और इसीसे समाजका कल्याण होता है। समाजका कल्याण इस बातसे नहीं होता कि किसी जातिकी धर्मपुस्तकमें क्या लिखा है और क्या नहीं लिखा है।" सामाजिक मानवके संबंधमें एक अंग्रेज विद्वानकी उक्ति है—

"Perhaps in no way is the moral progress of mankind more clearly shown than by contrasting the position of women among savages with their position among the most advanced of the civilized." अर्थात् असभ्य वहशी लोगोंमें स्त्रियोंकी जो अवस्था है तथा सभ्यसमाजके सर्वाधिक उन्नत लोगोंमें स्त्रीजातिकी जो स्थिति है, उसकी तुलना करनेसे मानवजातिकी नैतिक उन्नतिका जितना स्पष्ट और अच्छा पता चलता है उतना शायद किसी अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता। अस्तु, मानवकी सभ्यता, सुसंस्कृति शिष्टता और विवेककी कसौटी स्त्रीजातिके प्रति उसका व्यवहार और परिणामस्वरूप स्त्रीजातिकी सुदशा है। वर्तमानमें, मनुष्यके लिये अपनी २ समाज, जाति और वर्गकी अवस्थाको इस मापदण्डसे ही जाँचना और आदर्श प्राप्तिकेलिये प्रयत्नशील होना ही सर्वप्रकार श्रेयस्कर होगा।

वीरसेवामन्दिर ता० ६-१-४७

* शरत्बाबूका निबंध 'नारीर मूल्य' (नारीका मूल्य) —पृ० ६७, ७४, ६४

अपभ्रंश भाषाका जैनकथा साहित्य

(ले०—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

कथा साहित्यकी महत्ता

भारतीय वाङमयमें कथा पुराण और चरित ग्रन्थोंका उल्लेखनीय बाहुल्य है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके साहित्यक विद्वानोंने विविध भाषाओंमें पुराणों चरितों और काव्य चम्पू आदि ग्रंथोंका निर्माण किया है। जहाँ जैनेतर विद्वानोंने अपभ्रंशको छोड़कर संस्कृत आदि दूसरी भाषाओंमें कथा साहित्यकी सृष्टि की है। वहाँ जैनविद्वानोंने प्राकृत और संस्कृतके साथ अपभ्रंश, भाषामें भी कथा, चरित, और पुराण ग्रंथ निबद्ध किये हैं। इतना ही नहीं किन्तु भारतकी विविध प्रान्तीय भाषाओं मराठी, गुजराती और हिन्दी आदिमें भी कथा साहित्य रचा गया है। अस्तु, आज मैं इस लेख द्वारा पाठकोंको अपभ्रंशभाषाके कुछ अप्रकाशित कथा साहित्य और उनके कर्ताओंके सम्बन्धमें प्रकाश डालना चाहता हूं, जिससे पाठक उनके विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करसकें।

कथाएँ कई प्रकारकी होती हैं; परन्तु उनके दो भेद मुख्य है—लौकिक और आध्यात्मिक। इन दोनोंमें सभी कथाओंका समावेश हो जाता है, अथवा धार्मिक और लौकिकके भेदसे वे दो प्रकारकी हैं उनमें धार्मिक कथाओंमें तो आध्यात्मिकताकी पुट रहती है और लौकिक कथाओंमें पशु-पक्षियों राजनीति, लोकनीति आदि बाह्य लौकिक मनोरंजक आख्यानोंका सम्मिश्रण रहता है। इनमें आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत धार्मिक कथाओंका आंतरिक जीवन घटनाओंके साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और उनमें व्रतोंका सदनुष्ठान करने वाले भव्यश्रावकोंकी धार्मिक मर्यादाके साथ नैतिक जीवनचर्याका भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। साथही भारी संकट समुपस्थित होनेपर धीरतासे विजय प्राप्त करने, अपने पुरुषार्थको सुदृढ रूपमें कायम रखने तथा धार्मिकश्रद्धामें अडोल रहनेका स्पष्ट निर्देश पाया जाता है, जिससे उन्हें सुनकर तथा जीवनमें उतार कर उनकी महत्ताका यथार्थ अनुभव किया जा सकता है। कितनी ही कथाओं में जीवनोपयोगी आवश्यक तत्त्वका संकलन यथेष्ट रूपमें पाया जाता है जो प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको सफल बनानेके लिये आवश्यक होता है। असलमें सत्पुरुषोंका उच्चतर जीवन दूसरोंके लिये आदर्श रूप होता है, उसपर चलनेसे ही जीवनमें विकास और नैतिक चरित्रमें वृद्धि होती है, एवं स्वयंका आदर्श जीवन बनता है। इससे पाठक सहजहीमें कथाओंकी उपयोगिता और महत्ताका अनुभव कर सकते हैं।

अपभ्रंश भाषाके इन कथाग्रन्थोंमें अनेक विद्वान कवियोंने व्रतोंका अनुष्ठान अथवा आचरण करनेवाले भव्य-श्रावकोंके जीवन-परिचयके साथ व्रतका स्वरूप, विधान और फलप्राप्तिका रोचक वर्णन किया है। साथ ही, व्रतका पूरा अनुष्ठान करनेके पश्चात उसका उद्यापन करनेकी विधि, तथा उद्यापनकी सामर्थ्य न होनेपर दुगना व्रत करनेकी आवश्यकता और उसके महत्त्वपर भी प्रकाश डाला है। व्रतोंका उद्यापन करते समय उस भव्य-श्रावककी धर्मनिष्ठा, कर्तव्यपालना, धार्मिकश्रद्धा, साधर्मिवात्सल्य, निर्दोषव्रताचरणकी समता और उदारताका अच्छा चित्रण किया गया है और उससे जैनियोंकी तत्तत् समयोंमें होनेवाली प्रवृत्तियों लोकसेवाओं, आहार औषधि, ज्ञान और अभयरूप चारदानों की प्रवृत्ति, तपस्वी-संयमीका वैय्यावृत्य तथा दीनदुखियोंकी समय समयपर की जानेवाली सहायताका उल्लेख पाया जाता है। इस तरह यह कथासाहित्य और पौराणिक चरित्रग्रंथ ऐतिहासिक व्यक्तियोंके पुरातन आख्यानों, व्रताचरणों अथवा नीच-ऊँच व्यवहारोंकी एक कसौटी है। यद्यपि उनमें वस्तुस्थितिको अलंकारिक रूपसे बहुत कुछ बढ़ाचढ़ा कर भी लिखा गया है; परन्तु तो भी उनमें केवल कविकी कल्पनामात्र ही नहीं है, किन्तु उनमें कितनी ही ऐतिहासिक आख्यायिकाएँ (घटनाएँ) भी मौजूद हैं जो समय समयपर वास्तविक रूपसे घटित हुई हैं। अतः उनके ऐतिहासिक तथ्योंको यों ही नहीं भुलाया जा सकता। जो ऐतिहासिक विद्वान इन कथाग्रन्थों और पुराणोंको कोरी गप्प या असत्य कल्पनाओंका गढ़ कहते हैं वे वास्तविक वस्तुस्थितिका मूल्य आँकनेमें असमर्थ रहते हैं। अतः उनकी यह कल्पना समुचित नहीं कही जा सकती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथाग्रंथोंके निर्माणका उद्देश्य

जैनाचार्यों अथवा जैनविद्वानों द्वारा कथाग्रन्थोंके बनाये जानेका समुद्देश्य केवल यह प्रतीत होता है कि जनता असंयमसे बचे और व्रतादिके अनुष्ठान द्वारा शरीर और आत्माकी शुद्धिकी ओर अग्रसर हो। साथ ही, दुर्व्यसनों और अन्याय अत्याचारोंके बुरे परिणामोंको दिखानेका अभिप्राय केवल उनसे अपनी रक्षा करना है और इस तरह जीवनकी कमियों एवं त्रुटियोंको दूर करते हुए जीवनको शुद्ध एवं सात्विक बनाना है। और व्रताचरण-जन्य पुण्य-फलको दिखानेका प्रयोजन यह है कि जनता अधिसे अधिक अपना जीवन संयत और पवित्र बनावे, प्रमादजनक, अनिष्ट, अनुपसेव्य, अल्पघात और बहुघातरूप अभक्ष्य वस्तुओंके व्यवहारसे अपनेको निरंतर दूर रक्खे। ऐसा करनेसे ही मानव अपने जीवनको सफल बना सकता है। इससे प्रकट है कि जैनविद्वानोंका यह दृष्टिकोण कितना उच्च और लोकोपयोगी है।

कथाग्रन्थ और ग्रन्थकार

अब तक इस अपभ्रंश भाषामें दो कथाकोश, दो बड़ी कथाएँ और उनतीस छोटी छोटी कथाएँ मेरे देखनेमें आई हैं। पुराण और चरितग्रंथोंकी संख्या तो बहुत अधिक है जिसपर फिर कभी प्रकाश डालनेका विचार है। इस समय तो प्रस्तुत कथाग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका ही संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

कथाकोश—अपभ्रंश भाषाका यह सबसे बड़ा कथाकोष है इसमें विविध व्रतोंके आचरण द्वारा फल प्राप्त करने वालोंकी कथाओंका रोचक ढंगसे संकलन किया गया है। इसमें प्रायः वे ही कथाएँ दी हुई हैं जिनका उदाहरणस्वरूप उल्लेख आचार्य शिवार्यकी भगवती आराधनाकी गाथाओंमें पाया जाता है। इससे इन कथाओंकी ऐतिहासिक तथ्यतामें कोई सन्देह नहीं रहता। प्रस्तुत कथाकोशके रचयिता मुनि श्रीचन्द्र हैं जो सहस्रकीर्तिके प्रशिष्य और वीरचन्द्रके प्रथम शिष्य थे। यह ग्रन्थ तिरेपन संधियोंमें पूर्ण हुआ है। ग्रंथकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि इसे कविने अणहिलपुरके प्राग्वट वंशी सज्जनके पुत्र और मूलराजनरेशके गोष्ठिक कृष्णके लिये बनाया था। इनकी दूसरी कृति रत्नकरण्डश्रावकाचार पद्धडिया छंद २१ संधियों और चारहजार चारसौ तेईस श्लोकोंमें समाप्त हुआ है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् ११२३ है जब कि श्रीबालपुरमें कर्णनरेन्द्रका राज्य था। इस ग्रन्थ में भी सम्यग्दर्शनके निशंकितादि अंगों में प्रसिद्ध होनेवालोंकी कथाएँ बीच बीचमें दी हुई हैं*।

धम्मपरिक्खा—इस ग्रंथके कर्ता मेवाड़वासी धक्कडवंशी कविवर हरिषेण हैं जो गोवर्द्धन और गुणवतीके पुत्र थे। यह चित्तौड़को छोड़कर अचलपुरमें आए थे और वहाँ ही इन्होंने वि० सं० १०४४ में धर्मपरीक्षाको पद्धडिया छंदमें रचा था। इसमें मनोवेगकेद्वारा अनेक रोचक कथानकों तथा सैद्धान्तिक उपदेशों आदिसे पवनवेगकी श्रद्धाको परिवर्तित कर जैनधर्ममें सुदृढ़ करनेका प्रयत्न किया गया है। ग्रंथमें अपनेसे पूर्ववर्ती बनी हुई जयरामकी प्राकृत गाथाबद्ध धर्मपरीक्षाका भी उल्लेख हुआ है जो अभी तक अप्राप्य है। साथही, अपनेसे पूर्ववर्ती तीन महा कवियोंका—चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्तका—भी प्रशंसात्मक समुल्लेख किया है।

भविसयत्तकहा—समुपलब्ध कथाग्रंथोंमें कविवर धनपालकी भविष्यदत्तपंचमी कथा ही सबसे प्राचीन मालूम होती है। यह ग्रंथ २२ संधियोंमें पूर्ण हुआ है ग्रंथका कथाभाग बड़ा ही सुन्दर है। इस पंचमी व्रतके फलकी निदर्शक कथाएँ कई विद्वान कवियोंने रची है जिनका परिचय फिर किसी स्वतंत्र लेख द्वारा करानेका विचार है। यह धनपाल धर्कट नामके वैश्य वंशमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम माएसर और माताका धनश्री देवी था। कविको सरस्वतीका वरदान प्राप्त था। यद्यपि कविने ग्रंथमें कहीं भी उसका रचनाकाल नहीं दिया, फिर भी यह ग्रंथ विक्रमकी दशमी शताब्दीका बतलाया जाता है।

पुरंदरविहाण कहा—इस कथाके कर्ता भट्टारक अमरकीर्ति है जिन्होंने गुजरात देशके 'महीयडु' प्रदेशवर्ती गोदह्य (गोधा) नामके नगरमें ऋषभजिन चैत्यालयमें विक्रम संवत १२४७ की भादों शुक्ला चतुर्दशी गुरुवारके दिन 'षटकर्मोपदेश' की रचना की है। उस समय चालुक्य वंशी वंदिगदेवके पुत्र कर्णका राज्य था। ग्रंथमें कविने अपने-

* विशेष परिचयके लिये देखो, 'श्रीचन्द्र नामके तीन विद्वान' शीर्षक मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ७ किरण ९-१०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को 'मुनि' 'गणि' और 'सूरि' आदि विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है। इससे मालूम होता है कि वे गृहस्थ अवस्था छोड़ कर बादको मुनि बनगए थे। यह माथुरसंघी चन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि यह अमरकीर्ति आचार्य अमितगतिकी परम्परामें हुए हैं। अमितगति काष्ठासंघके विद्वान थे, जो माथुर संघकी एक शाखा है। भ० अमरकीर्तिने षट्कर्मोपदेशमें निम्न ग्रंथोंके रचे जानेकी सूचना की है— नेमिनाथचरिउ, महावीरचरिउ, टिप्पणधर्मचरित्त, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि और झाणपईव।

खेद है कि ये ग्रंथ अभीतक किसी भी शास्त्रभंडारमें उपलब्ध नहीं हुए हैं। प्रस्तुत ग्रंथकर्ताने अपना 'षट्कर्मोपदेश' और 'पुरंदरविधानकथा' ये दोनों ग्रंथ अम्बाप्रसादके निमित्तसे बनाये हैं यह अम्बाप्रसाद अमरकीर्तिके लघु बाँधव थे।

चंदणछट्ठीकहा—इस कथाके कर्ता कविलक्ष्मण अथवा लाखू है। इनकी गुरुपरम्पराका कोई विवरण प्राप्त नहीं हुआ। अतएव यह कहना अत्यंत कठिन है कि पंडित लाखू अथवा लक्ष्मण किस वंशके थे और उनके गुरुका क्या नाम था? लक्ष्मण नामके दो अपभ्रंश भाषाके कवियोंका संक्षिप्त परिचय मेरी नोटबुकमें दर्ज है। उनमें प्रथम लक्ष्मण कवि वे हैं जो जायस अथवा जैसवाल वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीसाहुल था। यह त्रिभुवनगिरिके निवासी थे, उसके विनष्ट होने पर वे यत्र-तत्र परिभ्रमण करते हुए बिलरामपुरमें आए थे, यह बिलरामपुर एटा जिलेमें आज भी बसा हुआ है। वहांके सेठ 'बिल्हणके पौत्र और जिनधरके' पुत्र श्रीधर थे, जो पुरवाडवंशरूपी कमलोंको विकसित करने वाले दिवाकर थे। इन्हीं साहू श्रीधरकी प्रेरणा एवं आग्रहसे लक्ष्मणने 'जिदत्तचरित' की रचना विक्रम संवत् १२७५ की पौष कृष्णा षष्ठी रविवारके दिन की थी+। इनका विशेष परिचय स्वतंत्र लेखमें दिया जायगा।

दूसरे कवि लक्ष्मण या लखमदेव वे हैं जो रतनदेव नामक वणिकके पुत्र थे और जो मालवदेशके 'गोणंद' नगरके निवासी थे। उस समय यह नगर धन, जन, कन और कंचनसे समृद्ध तथा उत्तुंग जिनालयोंसे विभूषित था। यह पुरवाडवंशके तिलक थे और रातदिन जिनवाणीके अध्ययनमें लगे रहते थे। उनकी एकमात्र रचना 'नेमिनाथचरिउ' उपलब्ध है जिसमें तेरासी कडवकों और चार संधियोंमें जैनियोंके बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथका चरित चित्रित किया गया है। ग्रंथमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है किन्तु सिर्फ इतना ही उल्लेख मिलता है कि ग्रंथ आषाढकी त्रयोदशीको प्रारम्भ किया गया और चैत्रकी त्रयोदशीको-पूर्ण हुआ था। अतः निश्चित समयका समुल्लेख करना कठिन है इन दोनों लक्ष्मण नामके विद्वानोंमेंसे कौनसे लक्ष्मण कवि चन्दनषष्ठी कथाके कर्ता हैं अथवा इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरे ही लक्ष्मण या लाखू कवि उक्त कथाके कर्ता हैं, इसके अनुसंधान होनेकी जरूरत है।

णिज्झरपंचमी विहाण कहाणक—इस कथा के कर्ता भट्टारक विनयचन्द्र हैं जो माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्रके शिष्य थे। विनयचंद्रके गुरु मुनि बालचन्द्रने भी जो उदयचन्द्रके शिष्य थे, दो कथाएं रची हैं जिनका परिचय आगे दिया जायगा। प्रस्तुत विनयचन्द्र विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके आचार्यकल्प विद्वान् पं० आशाधरजीके समकालीन विनयश्चन्द्रसे, जिनकी प्रेरणा एवं आग्रहसे उक्त पंडितजीने आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के इष्टोपदेश ग्रंथकी संस्कृत टीका बनाई थी* भिन्न हैं; क्योंकि पंडित आशाधरजीने उन्हें सागरचन्द्र मुनिका शिष्य बतलाया है जैसाकि उनकी टीका प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रा—
दजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसंदर्भगर्भः ।
शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥२॥

इस पद्यकी रोशनीमें दोनों विनयचन्द्रोंकी भिन्नतामें

+ बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं विक्कमकाल वियत्तउ।
पढमपक्खि रविवारइ छट्ठि सहारइ पूसमासे सम्मत्तउ ॥
—जिनदत्तचरितप्रशस्ति

* विनयेंदुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥१॥
—इष्टोपदेश टीकाप्रशस्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्देहको कोई गुंजायश नहीं रहती; क्योंकि उन दोनोंकी गुरुपरम्परा भिन्न भिन्न है। और समय भी भिन्न है। सागरचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्रका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी सुनिश्चित है तथा उक्त निर्झरपंचमी कथाके कर्ता विनयचन्द्र इनसे बादके विद्वान मालूम होते हैं, इनकी दो कृतियाँ और भी समुपलब्ध हैं। एक 'चूनड़ी' और दूसरी 'कल्याणकरासु' है। इन दोनोंमेंसे प्रथम रचनामें तेतीस पद्य हैं× और द्वितीय रचना 'कल्याणकरासु' में जैनियोंके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी पंचकल्याणक तिथियोंका वर्णन दिया हुआ है। ये दोनों रचनाएं जिस गुटकेमें लिखी हुई हैं वह विक्रम संवत १५७६ में सुनपत नगरमें सिकन्दरशाहके पुत्र इब्राहीमके राज्यमें लिखा गया है। इससे विनयचन्द्र अनुमानतः सौ या डेढ़सौ वर्ष पूर्व ही हुए होंगे अतः इनका समय विक्रमकी १४ वीं या पंद्रवीं शताब्दी होगा।

× अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ पृष्ठ २५८ से ६१ तक जो विनयचन्द्र मुनिकी चूनडीनामकी रचना प्रकाशित हुई है। उसके मुद्रित पाठका नया मन्दिर धर्मपुरा देहलीकी हस्तलिखित प्रतिपरसे ता० ८-५-४५ को मैंने संशोधन किया था उसके फलस्वरूप मालूम हुआ कि मुद्रित पाठमें प्रथम-द्वितीय पद्य तथा अन्तिम पद्यकी कुछ पंक्तियाँ लेखकोंकी कृपासे छूट गई हैं जिससे चूनडीके ३१ पद्य शेष रहगए हैं। असलमें उक्त चूनडी ३३ पद्योंमें समाप्त हुई है, उसका वह आदि और अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

आदिभाग—

विणएं वंदिवि पंचगुरु

मोह-महातम-तोडण-दिणयर, वंदिवि वीरणाह गुण गणहर।
तिहुवण सामिय गुण णिलउ, मोक्खह,मग्गु पयासण जगगुर।
णाह लिहावहि चूनडिया,मुद्धउ पभणइ पिउ जो डिविकर। १
पणविवि कोमल-कुवलय-णयणी लोयालोय पयासण-वयणी।
पसरि वि सारद जोण्ह जिमा, जा अंधारउ सयलु वि णासइ।
सा महु णिवसउ माणुसहिं, हंसवहू जिम देवी सरासइ॥ २

अन्तिम—

इह चूनडीय मुनिंद पयासी, संपुण्ण जिण आगमभासी।
पढहिं गुणहिं जेसद्दहहिं, तेन सिव.सुह लहहिं पयत्ते।
विणएं वंदिवि पंचगुरु॥३३॥

णिदुदुहसत्तमी कहा और णरयउतारीविहि— इन दोनों कथाओंके कर्ता मुनिबालचंद्र हैं जो मुनिउदयचन्दके शिष्यथे,इन्हीं बालचन्द मुनिके शिष्य विनयचन्द्रमुनिका ऊपर परिचय दिया गया है। प्रस्तुत बालचन्द्रमुनि आचार्य कुंदकुंदके प्राभृतत्रयके टीकार मुनि बालचन्द्रसे भिन्न हैं; क्योंकि वे नयकीर्तिके शिष्य थे, जो सिद्धान्त चक्रवर्तीकी उपाधिसे अलंकृत थे। उक्त कथाओंके कर्ता मुनि बालचन्द्र कब हुए, यह यथेष्ट साधन सामग्रीके अभावमें निश्चितरूपसे कहना कठिन है।

जिणरत्तिकहा और रविवउकहा—उक्त दोनों कथाओंके कर्ता यशकीर्ति भट्टा. गुणकीर्तिके लघुभ्राता व शिष्य थे। गुणकीर्ति महातपस्वी थे, उनका तपश्चरणसे शरीर अत्यंत क्षीण होगया था। इनके शिष्य यशःकीर्ति अपने समयके एक अच्छे विद्वान् कवि थे। इन्होंने संवत् १४८६ में विबुधश्रीधरके संस्कृत भविष्यदत्तचरित्र और अपभ्रंश भाषाके 'सुकमालचरिउ' की प्रतियाँ अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थं लिखवाई थीं*। महाकवि रइधूने अपने 'सम्मइ जिनचरिउ' की प्रशस्तिमें यशःकीर्तिका निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है:—

"भव्व-कमल-सर-बोह-पयंगो,
वंदि वि सिरिजसकित्ति असंगो।"

कवि रइधूने यशःकीर्ति तथा इनके शिष्योंकी प्रेरणासे कितने ही ग्रंथोंकी रचना की है। यशःकीर्तिने स्वयं अपना 'पाण्डवपुराण' वि० सं० १४९७ में अग्रवालवंशी साहु वील्हा के पुत्र हेमराजकी प्रेरणासे बनाया था, यह पहले हिसारके निवासी थे और बादको उदयवश देहलीमें रहने लगे थे, और जो देहलीके बादशाह मुबारकशाहके मंत्री थे, वहाँ इन्होंने एक चैत्यालय भी बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। इनकी दूसरी कृति 'हरिवंशपुराण' है जिसकी रचना इन्होंने वि० सं० १५०० में हिसारके साहु दिवड्ढाकी प्रेरणासे की थी। साहुदिवड्ढा अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका गोत्र गोयल था। वे बड़े धर्मात्मा और श्रावकोचित द्वादश व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। इनकी तीसरी कृति आदित्यवार कथा है, जिसे रविव्रत-

* देखो, उक्त दोनों ग्रंथोंकी लेखक पुष्पिका।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथा भी कहते हैं। और चौथी रचना जिनरात्रि कथा है जिसमें शिवरात्रि कथाके ढंगपर जिनरात्रिके व्रतका फल बतलाया गया है। इनके सिवाय 'चन्दप्पह चरिउ' नामका अपभ्रंशभाषाका एक ग्रन्थ और है उसके कर्ता भी यशःकीर्ति हैं। वे प्रस्तुत यशःकीर्ति हैं या कि अन्य कोई यशःकीर्ति हैं इसका ठीक निश्चय नहीं; क्योंकि इस नामके अनेक विद्वान् होगए हैं+।

अणथमी कथा—इस कथाके कर्ता प्रसिद्ध कवि रइधू हैं जो भ० यशःकीर्तिके समकालीन विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और सोलहवीं सदीके प्रारम्भके विद्वान् हैं। पद्मावती पुरवालकुलमें समुत्पन्न हुए थे, उदयराजके प्रपौत्र और हरिसिंहके पुत्र थे, ग्वालियरके निवासी थे। इन्होंने वि० सं० १४९६ में सुकौशलचरितकी रचना की है, यह आशुकवि थे और जल्दी ही सरल भाषामें कविता करते थे। कवि रइधूने ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह के और उनके पुत्र कीर्तिसिंहके राजकालमें अनेक ग्रंथों की रचना की है और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी कराई है। वे प्रतिष्ठाचार्य नामसे प्रसिद्ध भी थे। कविने प्रस्तुत 'अणथमी' कथामें रात्रिभोजनके दोषों और उससे होनेवाली व्याधियोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि दो घड़ी दिनके रहनेपर श्रावक लोग भोजन करें; क्योंकि सूर्यके तेज मंद होनेपर हृदयकमल संकुचित हो जाता है, अतः रात्रिभोजनका धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे त्यागका विधान किया है, जैसा कि उसके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है—

जि रोय दलद्दिय दीण अणाह,
जि कुट्ठ गलिय कर कण्ण सवाह।
दुहग्गु जि परियणु वग्गु अणेहु,
सु-रयणिहिं भोयणु फलु जि मुणेहु॥ ८॥
घड़ी दुइ वासरु थक्कइ जाम,
सुभोयणु सावय भुंजहि ताम।
दियायरु तेउ उज्जि मंदउ होइ,
सकुकुच्चइ चित्तहु कमलु जि सोइ॥ ९॥

+ विशेष परिचयके लिये देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ११ किर २ में मेरा भ० यशःकीर्ति नामका लेख।

पुण्णासव कहा—इस कथा ग्रंथमें कविवर रइधू ने पुण्यका आश्रव करनेवाली व्रतोंकी कथाएँ दी हैं। ग्रंथमें कुल तेरह संधियाँ हैं। इस ग्रंथकी रचना कविवर रइधूने महाभव्य साहू नेमिदासकी प्रेरणासे की है, और इसलिये यह ग्रंथ भी उन्हींके नामांकित किया गया है। ग्रंथप्रशस्तिमें साहू नेमिदासके परिवारका विस्तृत परिचय निहित है।

कविवर रइधूने अपभ्रंशभाषामें २३-२४ ग्रंथोंकी रचना की है+।

अणथमी कथा (द्वितीय)—इस कथाके कर्ता कवि हरिचन्द हैं जो अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे। इसके सिवाय इनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। प्रस्तुत कथा पं० रइधूकी उल्लिखित कथासे बड़ी है, यह १६ कड़वकोंमें समाप्त हुई है। और उसमें रात्रिभोजनके दोषोंका उल्लेख करते हुए उसके त्यागकी प्रेरणा की गई है।

अणंतवयकहा आदि १५ कथाएँ—इन कथाओंके कर्ता भट्टारक गुणभद्र हैं। यद्यपि गुणभद्र नामके अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये भट्टारक गुणभद्र उन सबसे भिन्न हैं। यह माथुरसंघी भट्टारक मलयकीर्तिके शिष्य थे और अपने उक्त गुरुके बाद गोपाचलके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनकी रची हुई निम्न पन्द्रह कथाएँ पंचायती मन्दिर देहलीके गुटका नं० १३ १४ में दी हुई हैं, जो संवत् १६०२ में श्रावण सुदी एकादशी सोमवारके दिन रोहतकनगरमें पातिसाह जलालुद्दीनके राज्यकालमें लिखा गया है*। उन कथाओंके नाम इस प्रकार हैं:—

१ अणंतवयकहा २ सवणबारसिविहाणकहा ३ पक्खवइकहा ४ णहपंचमी कहा ५ चंदायणवयकहा ६ चंदणछट्ठी कहा ७ णरयउतारी दुद्धारसकहा ८ णिद्दहसत्तमी कहा ९ मउडसत्तमी कहा १० पुप्फंजलि-वयकहा ११ रयणत्तयविहाणकहा १२ दहलक्खणवयकहा १३ लद्धिवयविहाण कहा १४

+ देखो, अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७।

* अथ संवत्सरेस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्यात् संवत् १६०२ वर्षे श्रावणसुदि ११ सोमवासरे रोहितासशुभस्थाने पातिसाह जलालदी, (जलालुद्दीन) राज्यप्रवर्तमाने ॥छ॥

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

सोलहकारणवयविहि १५ सुयंधदसमी कहा।

इन कथाओंमेंसे नं० १, १० और १२ नंबरकी तीनों कथाएँ ग्वालियरके जैसवाल वंशी चौधरी लक्ष्मणसिंहके पुत्र पंडित भीमसेनके अनुरोधसे रची गई हैं। और नं० २ तथा नं० १३ की ये दोनों कथाएँ ग्वालियरवासी संघपति साहु उद्धरणके जिनमन्दिरमें निवास करते हुए साहु सारंगदेवके के पुत्र देवदासकी प्रेरणाको पाकर बनाई गई हैं। नं० ७ की कथा उक्त गोपाचलवासी साहु बीधाके पुत्र सहजपालके अनुरोधसे लिखी गई है। शेष नौ कथाओंके सम्बन्धमें निर्मापक भव्य श्रावकोंका कोई परिचय दिया हुआ नहीं है।

भट्टारक गुणभद्रका समय भी विक्रमकी १६ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है; क्योंकि संवत् १५०६ की धनपाल पंचमी कथाकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि उस समय ग्वालियर के पट्टपर भट्टारक हेमकीर्ति विराजमान थे*। और संवत् १५२१ में राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें गुणभद्र मौजूद थे, जब ज्ञानार्णवकी प्रति लिखी गई थी×। इन्होंने अपनी कथाओं में रचना समय नहीं दिया है। इसीसे निश्चित समय मालूम करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है।

* देखो, धनपाल पंचमी कथाकी लेखक प्रशस्ति, कारंजाप्रति। और कैटलोग सं० प्रा० सी० पी० एण्ड बरार।

× देखो, 'ज्ञानार्णव' आरा प्रतिकी लेखक प्रशस्ति।

सोखवई विहाण कहा—इस कथाके रचयिता विमलकीर्ति हैं, इनकी गुरुपरम्परा आदिका कोई परिचय प्राप्त नहीं हो सका।

सुयंधदसमी कहा—इस कथाके कर्ता कविवर देवदत्त हैं। इनकी गुरुपरम्परा और समयादि भी प्राप्त नहीं हो सका।

रविवउकहा और अणन्तवयकहा—इन दोनों कथाओंके रचयिता मुनि नेमिचन्द्र हैं जो माथुर संघमें प्रख्यात थे। नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान होगए हैं अतः सामग्रीके अभावसे प्रस्तुत नेमिचन्द्रकी गुरुपरम्परा और समयादिके सम्बन्धमें अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

इनके अतिरिक्त 'अणंतवयकहा' और 'मुत्तावली विहाणकहा' इन दोनों कथाओंके कर्ता अभी अज्ञात हैं, प्रस्तुत कथाओंमें कर्ताका कोई परिचय दिया हुआ नहीं है।

इस तरह इस लेखमें दो कथाकोषों, दो बड़ी कथाओं और छोटी छोटी तीस कथाओंका परिचय दिया गया है। आशा है अन्वेषक विद्वान इन कथाओंके अतिरिक्त जो और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर कथा साहित्य हो उसपर भी प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे, जिससे इस कथा साहित्यके सम्बन्धमें जनताकी विशेष जानकारी प्राप्त हो सके।

ता० २०।१०।४६] वीरसेवामन्दिर, सरसावा

'मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशाके लिये है। वह आत्माका गुण है; इसलिये वह व्यापक है; क्योंकि आत्मा तो सभीके होती है। अहिंसा सबके लिये है, सब जगहोंके लिये है, सब समयोंके लिये है। अगर वह दरअसल आत्माका गुण है, तो हमारे लिये वह सहज हो जाना चाहिये। आज कहा जाता है कि सत्य व्यापारमें नहीं चलता, राजकाजमें नहीं चलता। तो फिर वह कहाँ चलता है? अगर सत्य जीवनके सभी क्षेत्रोंमें और सभी व्यवहारोंमें नहीं चल सकता तो वह कौड़ी कीमतकी चीज़ नहीं है। जीवनमें उसका उपयोग ही क्या रहा? मैं तो जीवनके हरएक व्यवहारमें उसके उपयोगका नित्य नया दर्शन पाता हूं!'

—महात्मा गांधी

"दुनियामें जितने लोग दुखी हुए हैं, वे अपने सुखके पीछे पड़े, इसीलिये दुखी हुए। और जो दुनियामें सुखी पाये जाते हैं, वे सब औरोंको सुखी करनेकी कोशिशके कारण ही सुखी हैं।

काश, केवल हमारे धर्मोपदेशक ही नहीं, किन्तु दुनियाके राजनैतिक नेतागण भी इस सिद्धान्तको समझ लेते।"

—काका कालेलकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन जैनमन्दिरोंके ध्वंसावशेषोंसे निर्मित मस्जिदें

पुरानी दिल्लीकी मस्जिद—

सर्वप्रथम तो मुसलिम विजेताओंको जैन मन्दिरके स्तंभपूर्ण सभामंडपोंमें वह सर्व सामग्री प्राप्त होगई जो कि एक बनी बनाई मस्जिदके लिये आवश्यक होती। जो कुछ करना था वह केवल इतना ही कि भवनके बीचमें स्थित जैन मन्दिर (वेदीगृह) को हटा दिया जाय और पश्चिमी दिशामें महराबों से अलंकृत एक नई दीवार खड़ी करदी जाय, जो कि खुदाके बंदों (मुसलमानों) को उस दिशाका निर्देश करती रहे जिसमें कि मक्का अवस्थित है, और जिसकी ओर, जैसा कि सर्व प्रसिद्ध है, नमाजके वक्त मुंह करके खड़े होनेकी कुरानमें उनके लिये आज्ञा है। किन्तु यह निश्चयसे नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्षमें वे कभी मात्र इतनेसे ही सन्तुष्ट रहे हों। कमसे कम इन दो उदाहरणोंमें जिनका हम उल्लेख करने जा रहे हैं, उन्होंने, उपर्युक्त परिवर्तन के अतिरिक्त, जैन स्तंभोंके आगे महराबोंका एक परदा उठानेका और उसे अति यत्नपूर्वक निर्मित तथा सर्वप्रकार सम्पन्न प्रचुर खुदाई-कटाईकी कारीगरीसे जो कि उनकी भारतीय प्रजा निर्माण कर सकती थी, अलंकृत करनेका भी निश्चय किया।

यह निर्णय करना तनिक कठिन है कि किस हद तक ये स्तंभ उसी रूप और क्रममें अवस्थित हैं जिसमें कि भारतीयोंने उनकी मूलतः योजनाकी थी, अथवा किस हद तक विजेताओंने उन्हें स्थानभ्रष्ट करके पुनः संयोजित किया। यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका स्थान परिवर्तन नहीं किया गया तो भी यह तो प्रत्यक्ष है कि मुसलमानोंने उनके चौगिर्द दीवारें खड़ी करदीं, क्योंकि सभी 'सूत्रपथ' उनकी अपनी शैलीकी सजावटसे ढके हुये हैं और उनके समस्त खुले (उघड़े) हुए भागोंमें नुकीली महराबें बनी हुई हैं जिनका कि भारतीय कभी उपयोग नहीं करते। सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए सम्भावना यही प्रतीत होती है कि मुसलमानोंने समूची इमारतको पुनः संयोजित करके उसे उसका वर्तमान अवस्थित रूप दिया है। 'कनोगे' की प्रख्यात मस्जिद प्राचीन काहिरामें स्थित अमरूकी मस्जिदकी योजना के बिल्कुल समकक्ष ढंगपर पुनः संयोजित एक जैन मन्दिर ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। छत और गुम्बद सब जैन स्थापत्यकलाके हैं जिससे कि अन्दरूनी हिस्सेमें मूर (मुसलमानी—अरबी) शैलीका कोई भी चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु बाहरी भाग उतना ही विशुद्ध मुसल्मानी कलाका है। मांडू के निकट धार स्थानमें एक अन्य मस्जिद है जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और निश्चय ही एक जैन मन्दिरका पुनर्योजित रूप है। एक दूसरी मस्जिद जौनपुरके क़िलेमें तथा अहमदाबाद व अन्य स्थानों की अनेक दूसरी मस्जिदें—सब ही, जैनमन्दिरों को तोड़ फोड़कर और उनसे प्राप्त सामग्रीकी एक विभिन्न योजनानुसार पुनर्योजना करनेके ढंगको सूचित करती हैं। अस्तु, यदि कुतुबकी मस्जिदवाले स्तंभ पूर्ववत् अवस्थित रहते तो यह एक अपवाद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता‡, किन्तु फिर भी मैं यह सन्देह किये बिना नहीं रह सकता कि कोनोंमें स्थित दुमंजिले भवन और अन्य इमारतोंमें से भी कुछएक अपने मूलरूप में ही अवस्थित हैं; किन्तु इसपर हम अजमेरी मस्जिदके प्रकरणमें जिस मस्जिदमें कि जैनस्तंभ प्रायः निश्चयतः अपनी प्राथमिक योजनानुसार स्थित हैं, पुनः विचार करेंगे। तथापि यह पूर्णतः निश्चित है कि कुतुबके कितने ही स्तंभ वैसे ही खंडों से निर्मित हैं, और वे मस्जिदके निर्माताओं द्वारा उन स्थानोंमें स्थापित किये गये हैं जहां वे आज भी खड़े हुए हैं।

वह भाग अर्थात् प्रधान स्तंभश्रेणीका अर्धभाग (जो कि महराबोंकी विशाल शृंखलाके सन्मुख पड़ता है) अपने रूपको स्वयं शब्दोंकी अपेक्षा कहीं अधिक भले प्रकार स्पष्ट करता है। वह इतना विशुद्ध जैन है कि उक्त शैलीका कथन करते हुए उसका कथन शायद वहीं करना चाहिये था; किन्तु वह भारतवर्षकी चूंकि सबसे प्राचीन मस्जिदका एक अंग है अतः इसी प्रसंगमें उसका उल्लेख करना सर्वोपयुक्त है। ये स्तंभ उसी श्रेणीके हैं जैसे कि आबू पर्वतपर (देलवाड़ाके जैनमन्दिरोंमें) प्रयुक्त हुए हैं—सिवाय इसके कि देहलीवाले स्तंभ उनकी अपेक्षा अधिक समृद्ध और अधिक श्रमपूर्वक निर्मित हैं। इनमेंसे अधिकाँश तो संभवतः ११ वीं या १२ वीं शताब्दीके हैं और भारतवर्षमें उपलब्ध उन थोड़ेसे नमूनोंमें से हैं जो कि अलङ्कारों (सजावट) से अत्यधिक लदे हुए हैं। इनमें, सिवाय परदेके पीछे वाले स्तंभोंके तथा उनमेंसे कुछ एकके जिनका संबंध अधिक प्राचीनतर भवनोंसे था, सबमें ही शिरोभाग (चोटी) से लगाकर मूल तक एक इंच स्थान भी कहीं सजावटसे खाली नहीं है। तिसपर भी इनकी सजावट इतनी तीक्ष्ण है और इतनी चतुराई एवं कुशलतासे अङ्कित की गई है और उसका प्रभाव उनकी जीर्णशीर्ण अवस्थामें भी इतना चित्रोपम है कि ऐसी अत्यधिक सौन्दर्यपूर्ण वस्तुमें कोई भी दोष ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन है। कुछ स्तंभोंमेंसे उनके अङ्गोंमें अंकित ऐसी मूर्तियोंको काट-तोड़ कर निकाल दिया गया है जो कि मुसलमानोंकी मूर्तिपूजाविषयक कट्टरताको क्षुब्ध करती थीं। किन्तु छतमें तथा कम दीख पड़ने वाले भागों में जैन अर्हंतोंकी पद्मासनस्थ मूर्तियाँ और उस धर्मके अन्य चिन्ह-धार्मिक प्रतीक—आदि अब भी लक्षित किये जा सकते हैं।

‡ जनरल कनिंघमको उसकी दीवारपर एक अभिलेख अङ्कित मिला था जिसमें लिखा था कि इस मस्जिदके वास्ते सामग्री प्रदान करनेके लिये २७ भारतीय मन्दिर नष्ट किये गये थे (आर्कोलोजिकल रिपोर्ट्स, जिल्द १ पृ० १७६)। तथापि इसपरसे विशेष कुछ सिद्ध नहीं होता जब तक कि किसीको यह मालूम न हो कि इस कार्यके लिये जो मन्दिर ध्वंस किये गये वे कैसे थे। खजुराहो जैसे २७ मन्दिर, गन्थई मन्दिरको छोड़कर, इसके अन्दरूनी मंडपोंके आधेके लिये भी स्तंभ प्रदान नहीं कर सकते, और सादरी जैसा एक ही मन्दिर पूरी मस्जिदके लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करदेता, यद्यपि यह मन्दिर बहुत अर्वाचीन है तथापि यह मानलेनेका भी कोई कारण नहीं है कि मुस्लिमकालसे पूर्व ऐसे मन्दिर अवस्थित ही नहीं हो सकते थे।

कुतुबमीनार—

यह स्पष्ट नहीं होता कि मीनारकी खड़ी बांसुरीनुमा कोनियें कहाँसे नक़ल की गई हैं—खुरासान तथा और सुदूर पश्चिममें पाई जानेवाली मीनारोंकी किसी प्रकल्पक विशेषतासे, या कि वे जैनमन्दिरोंकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकृतियों परसे लीगई हैं? गजनीकी मीनारों के तलभागों की आकृतियों को देखते हुए प्रथम निष्कर्ष की संभावना सी प्रतीत होती है; किन्तु अक्कों मन्दिरों, विशेषकर मैसूर तथा अन्य स्थानों के जैन मन्दिरों की ताराकृति (सितारेनुमा शकल) से यही प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतीय ही हैं।

कुतुबकी मस्जिद—

कुतुबुद्दीनकी मस्जिद, जो कि सारे 'कुव्वतुल इस्लाम' (इस्लामकी शक्ति) कहलाती है, सामनेसे पीछेकी ओर, स्थूल रूपसे १५० फीट लम्बी है और आजू बाजू उसकी आधी (लगभग ७५ फीट) चौड़ी है। उसके मध्यका खुला आंगन १४२ फीट लम्बा और १०८ चौड़ा है। पूर्वी और उत्तरी दिशाके द्वार अभी भी समूचे हैं और उनपर मस्जिदकी स्थापना-संबंधी अभिलेख अंकित हैं। दक्षिणी दिशाका द्वार और उसके साथ ही पश्चिमी सिरेका बहुभाग तथा दक्षिणी दीवारकी सम्पूर्ण पश्चिमी स्तंभावली अदृश्य हो चुकी हैं। यद्यपि यह मस्जिद पूर्णतः भारतीय बल्कि वस्तुतः जैनमंदिरों की सामग्रीसे निर्मित है तथापि इसका प्रत्येक भाग दुबारा ही निर्मित हुआ है। ये मत भी, कि आंगनका प्राकारमूल तथा विस्तृत महराबदार परदेके पीछे वाले स्तंभ इसी प्रकार अवस्थित हैं जैसे कि वे भारतीयों द्वारा निर्मित किये गये थे, वैसे ही भ्रमपूर्ण हैं। इसमें शक नहीं कि प्रारंभमें दीवारों का बाहिरी भाग उसी प्रकार प्लास्टरसे पूर्णतया ढका हुआ था जैसा कि अन्दरूनी भागके खंभे; किन्तु यह सब प्लास्टर अब उतर चुका है। पूर्वी द्वारके बीचसे जो दृश्य दीख पड़ता है वह बड़ा ही मनोहर है और मध्य गुम्बदके दोनों ओर स्थित क्रमबद्ध स्तंभावलीका जो दृश्य छोरपरसे दीख पड़ता है वह अत्यन्त कमनीय है। यह गूढ़-छन्नपथ (Corridor) प्रायः पूर्ण है, किन्तु उत्तर ओर वाले ऐसे पथका तीन चौथाई भाग तथा दक्षिणी पथ एवं अपेक्षाकृत अधिक सादे स्तंभोंका अत्यल्पांश ही अब अवशेष रह गया है। सर्वाधिक सुन्दर स्तंभ पूर्वी आच्छादित पथकी उत्तर दिशामें स्थित हैं; उनके ऊपर अंकित पुष्पपात्रों (फूलदान, गमले) जिनमेंसे फूलपत्तियाँ बाहरको लटक रही हैं, प्रथानुसारी पुष्पमालायुक्त व्याघ्रमुखों, गुच्छेदार रस्सियों, जंजीरोंसे लटकती घंटियों और अनेक कौसुमी (फूलदार) रचनाओंका उत्कीर्णीकरण ध्यान-पूर्वक परीक्षण करने योग्य हैं। दीवारसे दूसरी पंक्तिमें, मध्यस्थलसे उत्तरकी ओर पांचवें स्तंभपर एक वत्सयुक्त गौ (गाय-बछड़ा) अंकित है, और उसी पंक्तिमें आंगनके सिरेपर पांचवाँ स्तंभ समस्त स्तंभोंमें शायद सर्वाधिक सुन्दर स्तंभ है। अनेकों अधखंडित जैनमूर्तियाँ और कितनी ही अखंडित भी, जो कि प्लास्टर द्वारा पूर्णतया छिपाई जा सकती थीं, इन स्तंभोंपर उत्कीर्ण हुई देख पड़ेंगी।

नोट—प्रस्तुत लेख, ला० पन्नालालजी जैन अग्रवाल देहली द्वारा प्रेषित 'All about Delhi' (सब कुछ देहली सम्बन्धी) नामक पुस्तकके पृ० ४१, ४४-४५, ४६-४७, ५१, १८७ परसे लिये गये अंग्रेजी उद्धरणोंका अनुवाद है।

—ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक-कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

[गत किरणसे आगे]

सरागी और वीतरागी देवोंकी समानता-असमानतापर विचार—

हमने आप्तमीमांसाके 'अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः' इस द्वितीय कारिका-वाक्य और उसके आचार्य विद्यानन्द तथा वसुनन्दिकृत टीकागत व्याख्यानसे यह प्रमाणित एवं प्रतिपादित किया था कि आप्तमीमांसाकारने क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको केवलीमें आभ्यन्तर विग्रहादि-महोदय (शारीरिक अतिशय) के रूपमें स्वीकार किया है—उसे छोड़ा नहीं है। किन्तु वह रागादिमान् स्वर्गवासी देवताओंमें भी पाया जानेसे लक्षण नहीं है—उपलक्षणमात्र है।

इसपर प्रो० सा० ने यह आपत्ति उपस्थित की है कि यदि क्षुधादि-प्रवृत्तियोंका अभाव सरागी देवोंमें भी हो, तो सरागी और वीतरागी देवोंमें कोई भेद नहीं रहेगा। साथमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको घातिकर्म-क्षय-जन्य या मोहनीय-कर्म-क्षय-जन्य नहीं माना जा सकेगा; क्योंकि सरागी देवोंके घातिकर्म और मोहनीयकर्म मौजूद हैं?

इसका उत्तर यह है कि सरागी और वीतरागी देवोंमें जो भेद है वह क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको लेकर नहीं है, किन्तु सरागता और वीतरागताको लेकर है जैसाकि उनके नामोंसे और स्वयं आप्तमीमांसाकारके 'रागादिमत्सु सः' इस प्रतिपादनसे ही प्रकट है। अर्थात् जो स्वर्गवासी देव हैं वे तो राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंसे विशिष्ट हैं और जो वीतरागी देव हैं वे उन दोषोंसे सर्वथा रहित हैं—निर्दोष हैं। अत एव क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव दोनोंमें रहनेपर भी सरागता और वीतरागता-कृत भेद उनमें स्पष्ट है। कितनी ही बातोंमें समानता और कितनी हीमें असमानता दोनों हर एकमें रहती हैं। इतना ही है कि जो उनका असाधारण[1]—उसी मात्रमें रहनेवाला और तदतिरिक्तमें न रहने वाला—धर्म होता है वही उसका व्यावर्तक लक्षण (भेदक) माना जाता है। पर जो धर्म उभयत्र दोनोंमें पाया जाता है वह लक्षण नहीं होता—उपलक्षण हो सकता है। अतः मानवीय क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव किसी अपेक्षासे समानता रखने वाले सरागी और वीतरागी देवोंमें बतलानेसे वे अभिन्न नहीं हो जाते—सकषाय और अकषायका भेद उनमें स्पष्टतः मौजूद है।

अब प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि फिर उसे (क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको) घातिकर्म-क्षय-जन्य या मोहनीयकर्म-क्षय-जन्य कैसे माना जा सकता है क्योंकि इन कर्मोंसे विशिष्ट सरागी देवोंमें भी वह पाया जाता है?

वास्तवमें हम यहीं भूल करते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको सर्वथा घातिकर्मक्षय-जन्य अथवा मोहनीय कर्म-क्षय-जन्य ही समझ लेते हैं। पर बात यह नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिया कर्मोंके अथवा मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षयसे भी होता है और उनके विशिष्ट क्षयोपशमसे भी होता है। कोई भी गुण अथवा दोषाभाव हो वह दो तरहसे होता है[2]—कर्मोंके क्षयसे अथवा कर्मोंके क्षयोपशमसे

---

1 'तदितरावृत्तित्वे सति तन्मात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वम्'।–स०

2 ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहलाते हैं। इनमें मोहनीयका तो अभाव तीन तरहसे होता है—उपशमसे, क्षयोपशमसे और क्षयसे। शेष तीन कर्मोंका अभाव दो ही तरहसे होता है—क्षयोपशमसे और क्षयसे। उपशम, क्षयोपशम और क्षय तीनों हालतोंमें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव होता है। उपशमकी हालतमें दोषभाव और गुणका आविर्भाव अन्तर्मुहूर्त जितने कालके लिये ही होता है। अतः वह यहाँ गौण है। क्षयोपशम अवस्थामें दोषाभाव और गुण

से। कर्मोंके सर्वथा क्षयसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह स्वभावे परिपूर्ण रूपमें और सदाके लिये होता है। उस नष्ट दोषके अथवा उत्पन्न गुणके अभावके पुनः होनेकी किसी भी काल, किसी भी क्षेत्र और किसी भी पर्यायमें सम्भावना नहीं रहती। एक बार उत्पन्न हुआ फिर वह सदैव अनन्त कालतक वैसा ही बना रहता है—उसकी प्रच्युति फिर नहीं होती। पर कर्मोंके क्षयोपशमसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह न्यूनाधिक और किसी निश्चित काल तकके लिये ही होता है और इसीलिये क्षयोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव तरतमता-न्यूनाधिकताको लिये हुए पाये जाते हैं और असंख्यातरूपसे वे घटते बढ़ते रहते हैं—एक बार उत्पन्न हुआ क्षयोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव कालान्तर, देशान्तर और पर्यायान्तरमें नष्ट होकर पुनः भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणस्वरूप एक वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमको ही लीजिये, वह सर्वतो न्यून सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और सर्वतो अधिक तेरहवें गुणस्थानके उन्मुख हुए बारहवें गुणस्थानवर्ती महायोगी निर्ग्रन्थके और सर्वार्थसिद्धिके देवके है। मध्यवर्ती असंख्यात भेद दूसरे अनन्त प्राणियोंके हैं। एक ही जीवके विभिन्न कालोंमें वह संख्यातीत प्रकारसे हो सकता है। इस वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमका ही प्रभाव है कि दो-दो छह-छह महीने और यहाँ तक कि बारह वर्ष तक भी मानवशरीरमें भूख-प्यासादिकी वेदना नहीं हो पाती। यह बात तो आज भी अनुभव सिद्ध है कि वीर्यन्तरायकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनाधिकतासे कोई एक ही उपवास कर पाता है या मामूली ही परिश्रम कर पाता है और दूसरा दस-दस बीस-बीस उपवास कर लेता है या बड़ा-सा बड़ा परिश्रम करके भी थकानको प्राप्त नहीं होता। अकलंकदेवने राजवार्तिकमें एक कायबलऋद्धिधारी योगी मुनिका वर्णन किया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे असाधारण काय-बल प्राप्त होता है जिससे वे एक एक महीने, चार-चार महीने और एक एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण करनेपर भी कभी थकते नहीं हैं और न उन्हें पसीना ही आता है। राजवार्तिकका वह उद्धरण इस प्रकार है:—

"वीर्यान्तराय-क्षयोपशमाविर्भूतासाधारणकायबलत्वान्मासिकचातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रम-क्लमविरहिताः कायबलिनः" पृ.१४४

देवोंके आयुकर्म और घातिकर्मका उदय मौजूद है और आयुकर्म तो प्रतिक्षण गलता भी रहता है फिर भी उनके जरा नहीं आती—उसका अभाव है और इसीलिये उन्हें 'निर्जर'[1] कहा गया है। यदि पूछा जाय कि उनके जराका अभाव किस कर्मके क्षयसे है या किस तरहसे है? तो इसका उत्तर यही दिया जायगा कि यद्यपि उनके वीर्यान्तरायकर्मका उदय है—क्षय नहीं है फिर भी उसका उनके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशम है और उससे उन्हें ऐसा बल प्राप्त रहता है कि जिसकी वजहसे वे बुढापाको प्राप्त नहीं होते। इसी क्षयोपशमके प्रभावसे पसीनाका भी उनके अभाव है। तात्पर्य यह कि इस कर्मके क्षयोपशमका बड़ा अचिन्त्य प्रभाव है। इसी प्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयोपशमको भी समझना चाहिये। निद्रादर्शनावरण कर्मका उदय उनके विद्यमान है—उसका उनके क्षय नहीं है फिर भी जो उनके निद्राका अभाव है और वे सदैव 'निर्निमेष' अथवा 'अस्वप्न'[2] बने रहते हैं वह उस कर्मके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशमकी ही कृपा है। अन्तर्मुहूर्तमें समग्र द्वादशाङ्ग श्रुतका पारायण करने वाले श्रुतकेवलीको कौन नहीं जानता? अतः यही बात प्रकृतमें समझिये। केवली भगवानके चूँकि घातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो चुका है, इसलिये उनके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव उन कर्मोंके सर्वथा क्षयजन्य है और सरागी देवोंके चूँकि घातिकर्मोंका एक खास तरहका क्षयोपशम है और इसलिये उनके उन प्रवृत्तियोंका खास तरहका अभाव है और वह क्षयोपशमजन्य है, जो क्षयोपशम उनकी आयु पर्यन्त ही रहता है तथा आयुके समाप्त होनेपर पर्यायान्तर—मानव या तिर्यंच-

आविर्भाव कुछ अधिक ६६ सागर तक बना रहता है। और क्षय-अवस्थामें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव सादि होता हुआ अनन्त काल तक अर्थात् सदैव रहता है—फिर उसकी प्रच्युति नहीं होती। इन दोनोंपर ही प्रकृतमें विचार किया गया है।

१ "अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः।"—अमरकोष १-७

२ "आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः।" —अमरकोष १-८।

की पर्याय—ग्रहण करते ही उस पर्यायानुकूल भूख-प्यासादिकी प्रवृत्ति होने लगती है। अपनी पर्यायमें तो उन मानव साधारण प्रवृत्तियोंका अभाव ही है। तात्पर्य यह हुआ कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिया कर्मोंके क्षयसे और उनके क्षयोपशमसे दोनोंसे होता है। उनका सर्वथा आत्यन्तिक अभाव तो केवलीके होता है जो घातिकर्मोंके क्षय-जन्य है और दैशिक, कालिक और पार्यायिक उनका अभाव सरागी देवोंके या विशिष्ट योगियोंके होता है जो घातिकर्मोंके क्षयोपशम-जन्य है। और इसलिये घातियाकर्मोंके क्षय तथा क्षयोपशम और क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावमें कारण-कार्य-भाव सोपपन्न है—इसमें कोई बाधादिदोष नहीं हैं।

हमारे इस विवेचनका समर्थन आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत महत्वपूर्ण शंका-समाधानसे भी हो जाता है, जो इस प्रकार है—

"अथ यादृशो घातिक्षयजः स (विग्रहादिमहोदयः) भगवति न तादृशो देवेषु येनानैकान्तिकः स्यात्। दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते। तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्।"—पृ० ४।

यहाँ विद्यानन्द पहले शंकाकार बन कर कहते हैं कि जैसा घातियाकर्मक्षयजन्य वह निःस्वेदत्वादि महोदय भगवान्में पाया जाता है वैसा देवोंमें नहीं है, उनके तो घातियाकर्म मौजूद हैं—मात्र उनका क्षयोपशम है और इसलिये उनका महोदय घातियाकर्मोंके क्षयजन्य नहीं है—क्षयोपशमजन्य ही है। अतः हेतु अनैकान्तिक नहीं है और इसलिये यह महोदय (घातिकर्मक्षय-जन्य) आप्तपनेका निर्णायक होसकता है। इसका वे फिर उत्तरकार बनकर उत्तर देते हैं कि फिर भी (उक्त प्रकारसे हेतुमें व्यभिचार वारित हो जानेपर भी) हेतु आगमाश्रय है, पहलेकी तरह। अर्थात् वह आगमपर निर्भर है—आगमकी अपेक्षा लेकर ही साध्य सिद्धि कर सकेगा; क्योंकि आगममें ही भगवानके निःस्वेदत्वादि महोदयको घातियाकर्मक्षय-जन्य बतलाया गया है और इसलिये यहाँ हेतुवादसे आप्तका निर्णय करनेमें वह अविवक्षित है।

विद्यानन्दके इस शंका-समाधानसे स्पष्ट है कि केवलीके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभावरूप महोदय घातियाकर्मक्षय-जन्य है और सरागी देवोंके घातियाकर्मक्षय-जन्य न होकर उनके क्षयोपशम-जन्य है। यही कारण है कि उक्त महोदयको अतिशयमात्र ही बतलाया गया है—उसे लक्षणकोटमें नहीं रखा और इसलिये वह उपलक्षण हो सकता है। यहाँ हम यह भी प्रकट कर देना चाहते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंमें यथासम्भव प्रवृत्तियोंका ही अभाव देवोंमें है, जैसे पसीनाका अभाव, जराका अभाव मानवीय क्षुधा-पिपासाका अभाव, आतंक (रोग) का अभाव, अकालमृत्युका अभाव आदि। और इनकी अपेक्षा सरागी तथा वीतरागी देवोंमे समानता है। और राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, भय आदिके अभावकी अपेक्षा उनमें असमानता है। आप्तमीमांसामें चूँकि हेतुवादसे आप्तका निर्णय अभीष्ट है, इसलिये वहाँ वह केवल असमानता (वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता) ही विवक्षित हुई है और इसीके द्वारा अरहन्तको कपिलादिसे व्यवच्छेद करके आप्त सिद्ध किया गया है। पर, रत्नकरण्डश्रावकाचार चूँकि श्रद्धाप्रधान श्रावकोंके धर्मका प्रतिपादक ग्रंथ है, अतः वहाँ हेतुवाद और अहेतुवाद (आज्ञावाद-आगमवाद) दोनों द्वारा स्वीकृति अतिशयदिशक भी आप्तका स्वरूप वर्णित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आप्तमीमांसामें क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव भी केवलीमें विवक्षित है। पर, लक्षणरूपसे नहीं, किन्तु उपलक्षण अथवा अतिशयरूपसे।

लक्षण और उपलक्षणका विवेक—

मैंने अपने इसी लेखमें आगे चलकर यह बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड (श्लोक ५) में आप्तका स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमाँसाकी ही तरह "आप्तेनोत्सन्नदोषेण" इत्यादि किया है। हाँ, आप्तके उक्त स्वरूपमें आये 'उत्सन्नदोष' के स्पष्टीकरणार्थ जो वहाँ क्षुत्पिपासा आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण—रागद्वेषादिका अभाव और उपलक्षण—क्षुधादिका अभाव दोनोंको 'उत्सन्नदोष के स्वरूपकोटिमें प्रविष्ट किया गया है।' और फुटनोटमें न्यायकोष तथा संक्षिप्तहिन्दीशब्दसागरके आधारसे लक्षण और उपलक्षणमें भेद दिखाया था। इसपर प्रो० सा० ने उपलक्षणके दो-तीन और लक्षण अपने मूल लेखमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही—फुटनोटमें नहीं—उपस्थित किये हैं, मानों वे मेरी दृष्टिमें न हों और अन्तमें मुझसे पूछा है कि 'मेरे मतानुसार क्षुधादिवेदनाओंका अभाव आप्तका किस प्रकारका उपलक्षण है और रत्नकरण्डकार उसके द्वारा आप्तकी क्या विशेषता बतलाना चाहता है ? उसके द्वारा आप्तको सरागी देवोंके सदृश बतलाना उन्हें अभीष्ट है या उनसे पृथक्।' मेरे द्वारा लक्षण और उपलक्षणमें सप्रमाण दिखाये गये अन्तरमें आपने कोई दोष नहीं बतलाया और जब उसमें कोई दोष नहीं है तो उपलक्षणके लांगूल पुच्छकी तरह अन्यथासिद्ध और लक्षणोंको प्रस्तुत करना सर्वथा अनावश्यक है। उनसे सिद्ध-असिद्ध कुछ भी नहीं होता। शब्दस्तोममहानिधिगत उपलक्षणके स्वरूपको प्रस्तुत करते हुए तो वे उपलक्षण और अजहत्स्वार्था लक्षणामें भेद ही नहीं समझ सके। अस्तु, हम पुनः दोहराते हैं कि हमने जो लक्षण और उपलक्षणके मध्यमें न्यायकोष और हिन्दीशब्दसागरके आधारसे अन्तर दिखाया है वह निर्दोष है और इसलिये वही हमारे लिये वहाँ विवक्षित है। वास्तवमें उपलक्षण कहीं तो शब्दपरक होता है, जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" में काक पद उपलक्षण है और कहीं अर्थपरक होता है, जैसे आत्माके ५३ भावोंमें जीवत्वभावके अलावा ५२ भाव उपलक्षण हैं। प्रकृतमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव आप्तमें अर्थपरक उपलक्षण है और उससे रत्नकरण्ड श्रावकाचारका कर्ता आप्तको मानवप्रकृतिसे भी अतीत बतलाना चाहता है। अर्थात् 'वे (केवली भगवान्) लोकोत्तर परम-आत्मा हैं' यह उसके द्वारा प्रकट करना उन्हें अभीष्ट है। सरागी देव मानवप्रकृतिसे अतीत (अमानव) होते हुए भी वे आप्तसे पृथक हैं, आप्त तो मानवप्रकृतिरहित और देवाधिदेव हैं एवं घातिकर्मक्षयजन्य अपरिमित विशेषताओंसे युक्त है, पर सरागीदेव केवल मानवप्रकृतिरहित ही हैं एवं कर्मोंके विशिष्ट क्षयोपशमजन्य सीमित और अल्पकालिक विशेषताओं—महोदयोंसे ही युक्त हैं—वे देवाधिदेव वीतरागदेव नहीं हैं, यह रत्नकरडश्रावकाचारके ६ ठवें पद्यमें उसके कर्ताने बतलाया है और यह स्वयं आप्तमीमांसाकारकी ही द्वितीय रचना स्वयम्भूस्तोत्रके मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्' आदि ७५ वें पद्यके सर्वथा अनुकूल है। अतः सरागी और वीतरागी देवोंके कुछ सादृश्यको लेकर उन्हें सर्वथा एक समझना या बतलाना भारी भूल है। इस सम्बन्धमें पीछे पर्याप्त विचार किया जा चुका है अतः और अधिक विस्तार अनावश्यक है।

(क्रमशः)

एक प्राचीन ताम्र-शासन

अर्सा हुआ भारत सरकारके अभिलेख-वेत्ता डा० हीरानन्दजी शास्त्री एम० ए० ने उटकमण्ड (मद्रास) से एक प्राचीन ताम्रशासनकी प्रतिलिपि (कापी), कुछ प्रश्नोंके साथ, मुनि पुण्यविजयजीके पास पाटन भेजी थी और उनके पाससे, तत्सम्बन्धी जानकारीके लिये, मुझे प्राप्त हुई थी; क्योंकि ताम्रशासन का सम्बन्ध आर्यनन्दि नामके दिगम्बराचार्यसे है, जिन्हें इस शासनपत्रमें 'जम्बूखण्ड' गणका आचार्य लिखा है और विस्तृत ज्ञान-दर्शन-तपसे सम्पन्न बतलाया है। ये आचार्य उस समय 'जलार' ग्राममें जो कि कणमाण्डी देशके अन्तर्गत पर्वत-निकटवर्ती ग्राम था, अपने गण अथवा संघ-सहित स्थित थे। इनके नामपर इस शासनपत्रमें ग्रामके उत्तरमें स्थित पूर्विण ग्रामका ५० निवर्तन क्षेत्र, भगवान् अर्हन्तकी प्रतिमा अथवा प्रतिमाओंकी नित्यपूजाके लिये और शिक्षक (शैक्ष्य-शिष्य ?), ग्लान (रोगी) तथा वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्ति (सेवा) के लिये, दान किया गया है, जिसकी सीमाओंका दानपत्रमें स्पष्ट उल्लेख है। यह दान उन श्रीमान् इन्द्रणन्द अधिराजकी ओरसे, अपने वंशजोंकी और अपनी धर्मवृद्धिके लिये,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया है जो कि विजयानन्द मध्यमराजाके पुत्र थे, सेन्द्रक नामक निर्मल कुलरूप आकाशके उदित दीप्त-दिवाकर थे और राष्ट्रकूट वंशमें उत्पन्न हुए श्री देढ महाराजके द्वारा अभिमत (माने हुए राजा) थे। और यह दान उन आगुप्तायिक राजाओंके ८४५ वर्ष बीतनेपर दिया गया है जो कि इस अवसर्पिणी कालके २४ वें तीर्थंकर सन्मति श्रीवर्द्धमानकी वृद्धिगत तीर्थसन्ततिमें हुए हैं—अर्थात् भगवान् वर्द्धमान (महावीर) के तीर्थानुयायी थे। उन्ही वर्द्धमान तीर्थंकरके शासनकी आदिमें एक श्लोकद्वारा मंगलाचरण-रूपसे वृद्धि-कामना की गई है—लिखा है कि 'जिन्होंने रिपुओं—कर्मशत्रुवोंका नाश किया है उन वर्द्धमान गण-समुद्रके वर्द्धमानरूप चन्द्रमाका दैदीप्यमान शासन (तीर्थ) वृद्धिको प्राप्त होवे, जो कि मोह के शासनस्वरूप है—मोहपर कंट्रोल रखने अथवा विजय प्राप्त करनेकी एकनिष्ठाको लिये हुए है। और दानपत्रके अन्तमें यह घोषणा की गई है कि 'जो इस दानका अपहरण करता है वह पंच महा-पातकोंसे युक्त होता है—हिंसादि पांच घोरपापोंका भागी होता है।' दानपत्रमें कुल १६ पंक्तियाँ हैं और इसलिये उसे पंक्तिक्रमसे ही आज अनेकान्त-पाठकोंके सामने रक्खा जाता है :—

1 वर्द्धतां वर्द्धमानेन्दोर्वर्द्धमानगणोदधेः शासनं नाशित-
2 रिपोर्भासुरं मोहनाशनम् ॥ इहास्यामवसर्पिण्यान्तीर्थ-
3 कराणां चतुर्विंशतितमस्य सन्मतेः श्रीवर्द्धमानस्य वर्द्धमा-
4 नायां तीर्त्थसन्ततावागुप्तायिकानां राज्ञामष्टासु वर्षशते-
5 षु पंचचत्वारिंशदग्रेषु गतेषु राष्ट्रकूटान्वयजातश्रीदे-
6 ढश्च (स्य ?) महाराजस्याभिमतः श्रीसेन्द्रकामलकुलाम्बरोदितदी-
7 प्तदिवाकरो विजयानन्दमद्धयमराजात्मजः श्रीमानिन्द्रणन्दाधि-
8 राजः स्ववंश्यानामात्मनश्च धर्मवृद्धये कण्माण्डीविषये
9 पर्वतप्रत्यासन्तजलारग्रामे जम्बूखण्डगणस्यायज्ञान-
10 दर्शनतपस्सम्पन्नाय आर्य्यणन्द्याचार्याय भगवदर्ह-
11 त्प्रतिमानवरतपूजार्थं शिखकग्लानवृद्धानां च तपस्विनां वै-
12 यावृत्यार्थं ग्रामस्योत्तरतः पूर्विणग्रामविरेयसीमकं द-
13 क्षिणेण मुञ्जलमार्ग्गपर्यन्तं अपरतः एन्दाविरुत्स-
14 हितवल्नीकं तस्मादुत्तरतः पुष्करणी ततश्च यावत्पूर्व्वविरेय-
15 कं राजमानेन पंचाशन्निवर्तनप्रमाणक्षेत्रन्द-
16 त्तवानेतद्यो हरति स पंचमहापातकसंयुक्तो भवति [।]

इस शासनपत्रमें उल्लेखित आगुप्तायिक राजाओं, उनके संवत्, राष्ट्रकूटवंशी देढ महाराज, सेन्द्रककुल, विजयानन्द राजा, उसके पुत्र इन्द्रनन्द आधिराजा, कण्माण्डी देश, जलार ग्राम, पूर्विण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्राम, जम्बूखण्ड गण, और आर्यनन्दि आचार्यके विषयमें विशेष अनुसन्धानकी जरूरत है, उससे इतिहास-विषयपर कितना ही नवीन प्रकाश पड़ेगा। अतः विद्वानोंको इस विषयमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिये और उसके नतीजेसे अनेकान्तको सूचित करके अनुगृहीत करना चाहिये। —सम्पादक

भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना

जिस समय भट्टारकोंका स्वेच्छाचार बहुत बढ़ गया था—उनके आचार विचार शास्त्रमर्यादाका उल्लंघन करके यथेच्छ रूप धारण कर रहे थे और उनकी निरंकुश, दूषित एवं अवांछनीय प्रवृत्तियोंसे जैन जनता कराह उठी थी और बहुत कुछ कष्ट तथा पीड़ाका अनुभव करती करती ऊब गई थी, उस समय कुछ विवेकी महान् पुरुषोंने भट्टारकोंके चंगुल से अपना पिण्ड छुड़ाने, भविष्यमें उनकी कुत्सित प्रवृत्तियोंका शिकार न बनने, उनके द्वारा किये जाने वाले नित्यके तिरस्कारों-अपमानों तथा अनुचित कर-विधानोंसे बचने और शास्त्रविहित प्राचीन मार्ग से धर्मका ठीक अनुष्ठान अथवा आचरण करनेके लिये दिगम्बर तेरहपन्थ सम्प्रदायको जन्म दिया था। और इस तरह साहसके साथ भट्टारकीय जूए को अपनी गर्दनोंपरसे उतार फेंका था तथा धर्मके मामलेमें भट्टारकोंपर निर्भर न रहकर—उन्हें ठीक अर्थमें गुरु न मानकर—विवेकपूर्वक स्वावलम्बनके प्रशस्त मार्गको अपनाया था। इसके लिये भट्टारकों को शास्त्रसभामें जाना, उनसे धर्मकी व्यवस्था लेना आदि कार्य बन्द किये गये थे। साथ ही संस्कृत-प्राकृतके मूल धर्मग्रंथोंको हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवादित करके—उनपर टीकाएं लिखकर—उन्हें सर्वत्र प्रचारित करनेका बीड़ा उठाया गया था, जिससे गृहस्थजन धर्म एवं तत्त्वज्ञानके विषयको स्वयं समझकर ठीक आचरण करें और उसके लिये गृहस्थोंसे गये बीते मठाधीश और महापरिग्रही भट्टारकोंके मुखापेक्षी न रहें, इसका नतीजा बड़ा सुन्दर निकला—गृहस्थोंमें विवेक जागृत हो उठा, धर्मका जोश फैल गया, गृहस्थ विद्वानों द्वारा शास्त्रसभाएं होने लगीं, भट्टारकोंकी शास्त्रसभाएं फीकी पड़ गईं, स्वतंत्र पाठशालाओं द्वारा बच्चोंकी धार्मिक शिक्षा का प्रारम्भ हुआ और जैनमन्दिरोंमें सर्वत्र शास्त्रों के संग्रह, स्वाध्याय तथा नित्यवाचनकी परिपाटी चली। और इन सबके फलस्वरूप श्रावक जन धर्म-कर्ममें पहलेसे अधिक सावधान होगये—वे नित्य स्वाध्याय, देवदर्शन, शास्त्रश्रवण, शील-संयमके पालन तथा जप-तपके अनुष्ठानमें पूरी दिलचस्पी लेने लगे और शास्त्रोंको लिखा लिखा कर मन्दिरों में विराजमान किया जाने लगा। इन सब बातोंमें स्त्रियोंने पुरुषोंका पूरा साथ दिया और अधिक तत्परतासे काम किया, जिससे तेरह पन्थको उत्तरोत्तर सफलताकी प्राप्ति हुई और वह मूलजैनआम्नाय का संरक्षक बना। यह सब देखकर धर्मासनसे च्युत हुए भट्टारक लोग बहुत कुढ़ते थे और उन तेरह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पन्थमें रात दिन रत रहनेवाले श्रावकोंपर दूषित मनोवृत्तिको लिये हुए वचन-बाणोंका प्रहार करते थे—उन्हें 'निष्ठुर' कहते थे, 'काठिया' (धर्मकी हानि करनेवाले) बतलाते थे और 'गुरु विवेकसे शून्य' बतलाते थे। साथ ही उनके जप-तप और शील-संयमादिरूप धर्माचरणको निष्फल ठहराते थे और यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करते थे कि तेरहपंथी वनिकपुत्रकी उत्पत्तिपर देवतागण रौरव-नरकका अथवा घोर दुःखका अनुभव करते हैं, जब कि पुत्रकी उत्पत्तिपर सारा जगत हर्ष मनाता है। इसके सिवाय वे पतितात्मा उन धर्मप्राण एवं शील-संयमादिसे विभूषित स्त्रियोंको, जो धर्मके विषयमें अपने पुरुषोंका पूरा अनुसरण करती थीं और नित्य मन्दिरजीमें जाती थीं किन्तु भट्टारक गुरुके मुखसे शास्त्र नहीं सुनती थीं, 'वेश्या' बतलाते थे !—उनपर व्यंग्य कसते थे कि वे प्रतिदिन जिनालय (जैन मंदिर) को इस तरह चली जाती हैं जिस तरह कि राजाके घर वारांगना (रण्डी) जाती है !!

हालमें इस भट्टारकीय मनोवृत्तिके परिचायक तीन पद्य मुझे एक गुटकेपरसे उपलब्ध हुए हैं, जो गत भादों मासमें श्री वैद्य कन्हैयालालजी कानपुरके पाससे मुझे देखनेको मिला था और जिसे सिवनीका बतलाया गया है। यह गुटका २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है। इसमें संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओंके अनेक वैद्यक, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र और जंत्र-मंत्र-तंत्रादि विषयक ग्रंथ तथा पाठ हैं। अस्तु; उक्त तीनों पद्य नीचे दिये जाते हैं, जो संस्कृत-हिन्दी मिश्रित खिचड़ी भाषामें लिखे गये हैं और बहुत कुछ अशुद्ध पाये जाते हैं इनके ऊपर "हृदे(दय)बोध ग्रंथ कथनीयः" लिखा है। संभव है 'हृदयबोध' नामका कोई और ग्रंथ हो, जिसे वास्तवमें 'हृदयवेध' कहना चाहिये, और वह ऐसे ही दूषित मनोवृत्ति वाले पद्योंसे भरा हो और ये पद्य (जिनमें ब्रेकेटका पाठ अपना है) उसीके अंश हों :—

"सूतउत्पत्यं (सुतोत्पत्तौ) जगत्सर्वं हर्षमानं प्रजायतेः(ते)
तेरापंथी वन्क(वनिक) पुत्रं(त्रे) रोरवं देवतागणाः॥१॥
त्रिदश१३पंथरतौ (ता) निशिवासराः।
गुरुविवेक न जानति निष्ठुराः
जप-तपे कुरुते बहुनिफलां (ला)
किमपि ये व (?) जना सम काठया॥ २॥
पुर्ष(रुष) रीत लषै निजकामिनी
प्रतिदिनं चलिजात जी (जि) नालये।
गुरुमुखं नहि धर्मकथा श्रुणं
नृपगृहे जिम जाति वरांगना॥ ३॥"

इन विषबुझे वाग्बाणोंसे जिनका हृदय व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ और जो बराबर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहे वे स्त्रीपुरुष धन्य हैं। और यह सब उन्हींकी तपस्या, एकनिष्ठा एवं कर्तव्यपरायणताका फल है, जो पिछले जमानेमें भी धर्मका कुछ प्रकाश फैल सका और विश्वको जैनधर्म एवं तत्वज्ञानविषयक साहित्यका ठीक परिचय मिल सका। अन्यथा, उस भट्टारकीय अन्धकारके प्रसार में सब कुछ विलीन हो जाता।

सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विविध-विषय

अंतःकालीन सरकार—'सामान्यतः मुस्लिम-लीगके केन्द्रस्थ कांग्रेसी सरकारमें सम्मिलित होनेका देशमें सर्वत्र सहर्ष स्वागत किया जाता; किन्तु इस नवीन सम्मिलनके प्रति देश वस्तुतः अत्यन्त उदासीन एवं निरुत्साह ही रहा। मि० जिन्ना द्वारा प्रस्तुत समस्याके हल करनेके प्रयत्नको 'अत्यन्त रूखा' कहकर ठीक ही बयान किया गया है। उनके स्वयंके अनुयायियोंमें भी, छोटे बड़े सब ही इससे नाखुश रहे। उन्होंने अन्तःकालीन सरकारसे अलग रहनेकी अपनी मूर्खताको भी महसूस किया और उसका प्रतिकार करना चाहा। कांग्रेस और लीगके बीच समझौता करानेके लिये नवाब भोपाल द्वारा किया गया हस्तक्षेप भी विफल रहा; अन्तमें, परिणामस्वरूप, मि० जिन्नाको वायसरायके हाथोंसे वही स्वीकार करना पड़ा जोकि नेहरू सरकार उन्हें पहले ही स्वयं दे रही थी। उन्होंने नेहरू सरकारकी अपेक्षा वायसरायके हाथों वे ही पांच स्थान लेने पसन्द किये। इस बातसे उनके मस्तिष्कका मित्रता अथवा सहायता पूर्ण होना सूचित नहीं होता। उक्त पांच स्थानोंमेंसे एक स्थान उन्होंने एक कांग्रेस-विरोधी हरिजनको इस आशामें दे दिया कि उससे भारतीय हरिजनोंमें फूट पड़ जायगी। इस बातसे भी उनके इरादोंमें मित्रभावका अभाव झलकता है। प्रत्युत इसके, यह भारतकी राष्ट्रीय एकताको भंग करनेका उनका एक साहसिक प्रयत्न था। नेहरू सरकारने पहिले ही अपने ऊपर संयुक्त उत्तरदायित्व लेकर शक्ति और सामञ्जस्यकी एक आश्चर्यजनक प्रथा डालदी थी। इस सरकारके लिये यह एक आसान बात थी, क्योंकि इसके सदस्य या तो कांग्रेसी थे या पक्के राष्ट्रवादी। क्या ये नये पाँच सदस्य, जो अब पाकिस्तान प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं इस संयुक्त उत्तरदायित्वको अपनायेंगे अथवा नहीं, यह एक अत्यन्त सन्दिग्ध प्रश्न है, यदि वे ऐसा नहीं करते तो नेहरू सरकार दो दलोंमें विभक्त हो जायगी और तब उसके वायसरायके आधीन रहने और उसके द्वारा नियन्त्रित होनेकी ही सम्भावना है; किन्तु इस परिस्थितिको कांग्रेस कभी भी स्वीकार नहीं करेगी। इस राजनैतिक समझौतेके — या इसे जो कुछ भी नाम दिया जाय उसके—फलस्वरूप साम्प्रदायिक खींचतानके भी कम होनेके कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते। नोआखोलीकी भयङ्कर दुरवस्था किसी भी भारतीय देशभक्तको यह महसूस करने नहीं दे सकती कि देशने अपनी कठिनाइयों और संकटोंसे मुक्ति पाली है। एक मात्र यही सन्तोषकी बात है कि (अन्तःकालीन सरकारके) कांग्रेसी दलमें देशके विद्यमान सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही सम्मिलित हैं; और संभव है वे ऐसी स्थितिमें भी सामञ्जस्यकी भावनायें सञ्चारित करनेमें सफल हो जाँय जहाँ उसकी कोई आशा नहीं है। किन्तु यह मात्र एक आशा ही है, यदि अभिलाषा नहीं।'

—के. एम. मुन्शी

कांग्रेस सभापतिका सन्देश—गत २२-२३-२४ नवम्बरको मेरठमें अ० भा० राष्ट्रीय महासभाका ५४ वाँ अधिवेशन सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। उक्त अवसरपर देशके मनोनीत राष्ट्रपति आचार्य कृपलानीने जनताको स्वावलम्बी बननेके लिये प्रेरित किया। आपने कहा—'आप लोगोंको अपनी रक्षाके लिये अन्तःकालीन सरकार, प्रान्तीय सरकार, फौज या पुलिसकी ओर न देखकर अपनी शक्ति, अपने संगठन तथा अपनी बहादुरीपर निर्भर रहना चाहिये। आप लोगोंको जातिपांतके बंधन त्याग देने चाहिये, अच्छे पड़ौसियोंके साथ मित्रता कायम करनी चाहिये और साहस तथा संगठनके साथ गुण्डेपनका विरोध करना चाहिये।'

पं० नेहरूजीका जन्मदिवस—ता० १४ नवम्बरको देश विदेशमें, भारतीय राष्ट्रके शिरमौर पं० जवाहरलाल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नेहरुका जन्मदिन सोत्साह मनाया गया। न्यूयार्क (अमेरिका) में स्थित भारतीय स्वातन्त्र्य सभाकी राष्ट्रीय समिति द्वारा इस उत्सवका आयोजन विशेष महत्त्वपूर्ण रहा। उसमें अमेरिका, रूस, चीन, इंगलिस्तान, फिलीपाइन द्वीपसमूह, अफगानिस्तान, लेबिनन आदि राष्ट्रोंके प्रतिनिधि सरकारी तौरपर सम्मिलित हुए थे। भारतीय प्रतिनिधिमंडलकी नेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित भी उपस्थित थीं। चीनी राजदूत डा० विलिङ्गटन कू उत्सवके प्रमुख वक्ता थे, आपने कहा कि 'यह वर्षगांठ उन (पं०नेहरू)के लिये तथा उस देशके लिये जिसके कि वे आज वास्तविक कार्याध्यक्ष हैं, नवजीवनकी सूचक है।' श्रीयुत कृष्णमेननने कहा 'उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय संसारमें भारतवर्षको एक स्वतन्त्र राष्ट्रकी भाँति कार्य करने योग्य बना दिया है। यहाँ न्यूयार्कमें हम अब 'अपने मालिकों-की प्रतिध्वनि मात्र' नहीं रहगये हैं जैसा कि हम वर्सेइ तथा जनेवामें रहे थे।' विलियम फिलिप्सने कहा कि 'सर्वोच्च भारतीय नेताकी वन्दना करना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।' हेनरी वेलेसने नेहरूजीको संसारके सर्वोच्च नेताओंमेंसे एक माना। और सुमनेर वेल्सने उनकी हृदयसे प्रशंसाकी।

लंदनमें इंडिया लीगकी ओरसे प्रो० हरुदानेके सभापतित्वमें यह उत्सव मनाया गया जिसमें पार्लमेंटके सदस्य मि० जुलियस सिलवरमेनने कहाकि 'नेहरुकी राजनैतिक दृष्टि विश्वभरमें सर्वाधिक प्रशस्त है। उन्होंने जीवनभर भारतके लिये कष्ट सहन किये, किन्तु उनसे उनमें कटुता नहीं आई।' स्वराज्य हाउस द्वारा भी यह उत्सव मनाया गया था और उसमें वक्ताओंने कहा कि 'नेहरू जी हमारे युगके सर्वश्रेष्ठ समाजवादी विचारक हैं।'

विधान परिषद्के अध्यक्ष—विहार रत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीने ३ दिसम्बरको अपने जीवनके ६३ वें वर्ष में प्रवेश किया है। इस उपलक्षमें देशने सर्वत्र आपका अभिनन्दन किया है आप भारतीय विधानपरिषदके प्रथम स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं जिसका कि कार्य प्रारंभ होगया है, यद्यपि लीगकी अनिश्चित्त नीति और सम्राटकी सरकारके अप्रत्याशित हस्तक्षेपोंके कारण उसके भविष्यके संबंधमें अभी निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि अध्यक्ष पद का भार संभालते समय डा० राजेन्द्रप्रसादजीने स्पष्ट घोषणा करदी है कि 'विधानपरिषदकी कार्यवाहीमें कोई बाह्य सत्ता हस्तक्षेप नहीं कर सकती। भारतका विधान बनानेके लिये विधान परिषद अपने ऊपर लगाई पाबन्दियोंको तोड़ देगी। अन्य देशोंने भी जब विधान परिषदें चुनकर उन्हें विधान बनानेका काम सौंपा तो उन्हें भी इस प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। हम भी अन्तमें उन्हीं देशोंकी भाँति कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त कर लेंगे।'

स्वर्गीय मालवीयजी—भारतभूषण महामना पं० मदनमोहन मालवीयका ८५ वर्षकी आयुमें गत १२ नवम्बर को काशीस्थ अपने निवास स्थानपर स्वर्गवास होगया, उनकी मृत्युका निकट कारण नोआखालीमें हिन्दुओंपर किये गये भीषण अत्याचारोंका धक्का था जिसे ये हिन्दुप्राण महामना, अत्यन्त वृद्ध तो थे ही, सहन न कर सके। स्व० मालवीयजी अपने समयके सबसे पुराने देशभक्त, जातिभक्त सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे। आपने लगभग ६० वर्ष पर्यन्त निरन्तर स्वदेश और स्वजातिकी अथक सेवाकी, चार बार अ० भा० कांग्रेसके सभापति हुए, काशी हिन्दुविश्वविद्यालय जैसी महान संस्थाकी स्थापना की और उसे अपने वर्तमान उन्नत रूपको पहुंचा दिया। धारासभाओंमें दी गई आपकी ओजपूर्ण लम्बी २ वक्तृताएँ स्मरणातीत रहेंगी। कट्टर सनातनी होते हुए भी आप उत्कट समाज सुधारक थे। महात्मागांधी आदि सभी राष्ट्रीय तथा जातीय नेताओं और भारतीय तथा विदेशी राजनीतिज्ञोंके आप जीवनभर श्रद्धा-भाजन बने रहे। आप सच्चे अर्थोंमें भारतभूषण और महामना थे। आपके निधनसे भारतवर्षमें सर्वत्र शोककी लहर व्याप्त होगई। हमारी हार्दिक भावना है कि स्वर्गीय आत्माको शान्ति एवं सद्गति प्राप्त हो।

श्रद्धेय मालवीयजीके निधनपर देशके विभिन्न नेताओंने अपने २ जो उद्गार व्यक्त किये हैं उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

पं० जवाहरलाल नेहरु—'अब हमें वह चमकता हुआ सितारा और नहीं देख पड़ेगा जिसने कि हमारे जीवनको प्रकाशित किया था और हमारे बचपनसे ही हमें सद्प्रेरणायें दी थीं। वे (मालवीयजी) अब स्वतन्त्र भारतके उस प्रतिष्ठित भव्य भवनमें रहेंगे जिसे नींवसे शिखर पर्यंत उन्होंने निर्मित किया है। मुझे उसदिनकी सजीव स्मृति है जब, कितने ही वर्ष हुए, मैं पुरानी साम्राज्य-व्यवस्था-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिका-सभाकी दर्शक गैलरीमें बैठा हुआ मूक प्रशंसाके साथ पं० मालवीयकी प्रभावशाली वक्तृता सुन रहा था। वह अपने युगके राजनैतिक महापुरुष थे।'

डा० राजेन्द्रप्रसाद—'उनका नाम भावी सन्ततिको यह याद दिलाते रहनेके लिये सदैव अमर रहेगा कि एक व्यक्ति अपनी दृढ़ एवं सतत् लगन द्वारा कितना कुछ कर सकता है।'

डा० भगवानदास—'भारतका एक सूर्य अस्त होगया। वह युवावस्थासे ही हिन्दी और अंगरेजीमें समानरूपसे दक्ष लेखक एवं वक्ता थे और अपने इन्हीं गुणोंके कारण अबसे ६० वर्ष पूर्व कांग्रेसके पिता द्वारा प्रशंसित किये गये थे।'

श्री कृष्णसिंह—'वे एक ऋषि थे और अपने अत्यन्त धार्मिक, निर्धन एवं त्यागपूर्ण जीवनके कारण वे अपने करोड़ों देशवासियोंके स्नेहभाजन बन गये।'

श्रीयुत श्रीप्रकाश—'पं० मदनमोहन मालवीयकी मृत्युके साथ साथ हमारे राष्ट्रीय रङ्गमञ्चसे १९ वीं शताब्दीका अन्तिम राष्ट्रनिर्माता अदृश्य होगया। वह एक अपूर्व व्यक्ति थे और उनके जीवनसे हमें, छोटे बड़े सभीको, अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं। उनकी जिह्वासे कभी कोई कटुशब्द नहीं निकला और उन्होंने कभी किसीकी निन्दा नहीं की। एकरसता एवं सतत् लगन उनके महान गुण थे। अपने दीर्घ एवं घटनापूर्ण जीवनमें उन्होंने न अपना परिधान ही कभी बदला और न अपने विचार ही।'

विधानपरिषद्का उद्देश्य—भारतीय विधान परिषद्के प्रारंभिक अधिवेशनमें जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ वह पं० नेहरूजी द्वारा उपस्थित किया गया था और उसमें उक्त परिषदका उद्देश्य भारतवर्षके लिये एक सर्वतन्त्र स्वतंत्र प्रजातन्त्रात्मक विधान निर्माण करना निश्चित हुआ है।

साम्प्रदायिक दंगे—राजनैतिक अधिकारोंकी प्राप्तिके मिस कतिपय स्वार्थी एवं अविवेकी दलोंके इशारेपर देशके विभिन्न भागोंमें अन्तःसाम्प्रदायिक विद्वेष तथा तज्जन्य दंगे फ़साद, रक्तपात व रोमाञ्चकारी अमानुषी अपराधोंकी एक बाढ़सी आगई, फलस्वरूप शान्तिप्रिय जनसाधारणकी इज़्ज़त आबरू, जन धन सब अरक्षित और आक्रान्त हुए। और यह सब उस समय हुआ जब कि लगभग आधी शताब्दीके निरन्तर त्याग तपस्या कष्टसहन तथा विविध आन्दोलनोंके फलस्वरूप देश स्वतन्त्रताके द्वारपर आ खड़ा हुआ था, और दूसरी ओर सप्तवर्षीय महाभयङ्कर विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था।

इन दंगोंके शिकार, पीड़ित त्रस्त, धन जन गृह हीन मानवोंकी सहायतार्थ अनेक संस्थाएँ एवं सेवाभावी सज्जन प्रयत्नशील हुए। पूर्वी बंगालमें जहाँ यह विनाशकारी विभीषिका खूब खुलकर खेली थी महात्मा गांधी स्वयं पहुंचे और गांव गांवका पैदल दौरा करके शान्ति और सद्भावनाका संचार कर रहे हैं। कितने ही जैनी महानुभावोंने भी इस कार्यमें सक्रिय सहयोग दिया; विशेषकर कलकत्तेके बा० छोटेलालजी, जो वीरसेवामन्दिरकी प्रबन्धसमितिके सभापति भी हैं, स्वयं उक्त स्थानोंमें गये, महात्माजीसे भी मिले, और प्रशंसनीय सेवाकार्य किया। आपकी ओरसे, विभिन्न पत्रोंमें जैनसमाजसे सहायतार्थ अपीलें भी निकली हैं, उनके उत्तरमें समाजने अभीतक जो सहायता दी है यद्यपि वह पर्याप्त नहीं है, तथापि उसमें दा० वी० साहू शान्तिप्रसादजीका नाम ख़ासतौरसे उल्लेखनीय है जिन्होंने इस हेतु पचास हज़ार रुपये प्रदान किये हैं। स्वयं बा० छोटेलालजीने भी इस कार्यमें हज़ारों रुपये व्यय किये हैं। 'वीर' आदि पत्रोंने भी कुछ द्रव्य एकत्रित करके उनके पास भेजा है।

हम आशा करते हैं कि दानी और उदार जैनसमाज लोकहितके इस कार्यमें अपना समुचित योग देनेसे मुँह न मोड़ेगी। सहायता भेजनेका पता—बा० छोटेलाल जैन, १७४-चितरंजन एवेन्यु, कलकत्ता, है।

अणु बम—अगस्त सन् ४५ में जापानके हिरोशामा तथा नागासाकी स्थानोंपर अणु बमके स्फोटसे जो विनाशकारी दुष्परिणाम हुए वह सर्वविदित हैं, तथापि आजके अन्तर्राष्ट्रीय जगतके प्रमुख राष्ट्रोंमें इस बम सम्बन्धीमोह एवं उसके बनाने और संग्रह करनेका प्रयत्न कम हुआ नहीं दीख पड़ता। परिणामस्वरूप उसका मुकाबला करनेकी समस्या मानवहितैषी विचारकोंके लिये चिन्ताका विषय बनी हुई है। प्रख्यात दया प्रचारक एवं सामाजिक कार्यकर्त्री अंग्रेज़ महिला मिस मरयल लिस्टरने अक्तूबरमें ईसाइयोंके एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलनमें भाषण देते हुए कहा था कि—'अणुशक्तिका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुकाबला करनेके लिये हम सबको उस नैतिक एवं आत्मिक शक्तिको मुक्त तथा प्रकट करना होगा जो हमारे भीतर दबी पड़ी है। आत्माकी यह शक्ति पौद्गलिक अणुकी शक्तिसे कहीं अधिक और बलवती है। हमें अपनी आत्माओंको उत्कर्षोन्मुख प्रयत्नशील रखना चाहिये। विश्व घमंड और उद्दंडताकी अपेक्षा सत्यं-शिवं-सुन्दरम्से ही ओत प्रोत है।'

जैनाधिकार संरक्षण—बहुत समयसे समाज-हितैषी जैन-विचारकों और नेताओंको भी अन्य अल्पसंख्यक जातियोंकी भाँति यह चिन्ता बनी रही है कि कहीं विविध राजनैतिक हलचलों परिवर्तनोंके फलस्वरूप अथवा स्वतन्त्र भारतके नवनिर्मित विधानमें, जिसकी सफलताके हित उन्होंने सदैव यथाशक्ति पूर्ण सहयोग एवं बलिदान दिया है, उनकी संस्कृति और न्याय्य अधिकारोंकी उपेक्षा न की जाय, उनके साथ अन्याय न किया जाय। कईबार विशिष्ट व्यक्तियों तथा कतिपय संस्थाओं द्वारा इस प्रकारकी आवाज़ें उठाई गई किन्तु वे सब नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़ होकर ही रहगईं। महायुद्ध समाप्त होगया, अधिकांश प्रान्तोंमें सार्वजनिक राष्ट्रीय सरकारें स्थापित होगईं, केबिनेट मिशन आया और चलागया, उसके अनुसार केन्द्रमें भी अन्तःकालीन राष्ट्रीय सरकारने कार्यभार संभाल लिया और स्वतंत्रभारतका विधान बनानेके लिये विधाननिर्मात्री लोकपरिषदका भी निर्वाचन एवं कार्य प्रारंभ होगया—किन्तु जैन नेता कानोंमें तेल डाले पड़े सोते ही रहे, और स्वभावतः जैनियोंका कहीं ध्यान भी नहीं रक्खा गया। अन्तमें, लगभग एक मास हुआ, देहलीमें अ० भा० दि० जैन परिषदके प्रधान मन्त्री बा० राजेन्द्रकुमारजीके संयोजकत्वमें विभिन्न जैन नेताओंकी एक मीटिंग हुई और उसमें इस विषयका एक प्रस्ताव पास किया गया कि 'केबिनेटमिशन' के १६ मईके बयान पैरा २० के अनुसार निर्मित होनेवाली 'नागरिक अधिकारों, अल्पसंख्यक जातियों तथा आदिवासी एवं बहिष्कृत क्षेत्रों संबंधी सलाहकार समिति' में तो कमसे कम जैनियोंका प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया जाय। इस प्रस्तावकी नकलें राष्ट्रपति आचार्य कृपलानी, विधान परिषदके अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद, अन्तःकालीन सरकारके उपाध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू तथा गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेलके पास भेजी गईं। इस प्रस्तावमें यह भी स्पष्ट कह दिया गया था कि 'जैन समाजका भविष्य सामान्यतः अखिल भारतीय जनताके राजनैतिक उत्कर्षके साथ घनिष्ठतया संबंधित है।

उस मीटिंगमें यह भी निश्चय हुआ था कि इस योजनाको सफलीभूत बनानेके लिये उपर्युक्त चारों अधिकारी राष्ट्रीय नेताओंसे डेपुटेशनके रूपमें साक्षात मिला जाय। फलतः अभी तक वह जैन डेपुटेशन डा० राजेन्द्रप्रसादजीसे भेंट कर चुका है और उन्होंने उसके साथ प्रस्तुत विषयपर बड़े ही सौहार्द एवं सौजन्यपूर्वक चर्चा की बताई जाती है तथा अन्तमें यह आश्वासन भी दिलाया बताया जाता है कि वे प्रकरण प्रस्तुत होनेपर इस बातका अवश्य ध्यान रक्खेंगे।

किन्तु गत २४ जनवरीको विधानसभाके अधिवेशनमें पं० गोविन्दवल्लभ पन्त द्वारा प्रस्तुत उक्त सलाहकार समिति-निर्माण विषयक जो प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुआ है उसमें उस समितिके सदस्योंकी संख्या यद्यपि ७२ निश्चित की गई है तथापि फ़िलहाल विधानसभा द्वारा केवल ५० सदस्य चुने जाने निश्चित हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—बंगाल, पंजाब, उप सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान और सिन्धके ७ हिन्दू; संयुक्तप्रान्त, विहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई, आसाम और उड़ीसाके मुसलमान ७; परिगणित जातियोंके ७; सिक्ख ६; भारतीय ईसाई ४; पारसी ३; ऐंग्लोइंडियन ३; कबायली व बहिष्कृत प्रदेश १३—इस तालिकामें प्रत्यक्ष ही जैनोंका नाम नहीं है जो कि पारसियों और ऐंग्लो इण्डियनोंकी अपेक्षा संख्यामें कहीं अधिक हैं और हिन्दू मुसलमान, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदिकी अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन, स्वतन्त्र एवं विशिष्ट धर्म और संस्कृतिसे संबंधित है। ता० २५ जनवरीके 'वीर' की सूचनानुसार विधानपरिषदके कांग्रेसी सदस्योंने उक्त सलाहकार समितिके लिये अपने प्रतिनिधि चुन लिये हैं जिनमें एक प्रो० के. टी. शाह भी हैं जो जैन हैं। किन्तु जहाँ तक हम समझते हैं प्रो० शाह जैनप्रतिनिधिके रूपमें नहीं चुने गये वरन् वे वहाँ एक कांग्रेसी प्रतिनिधिकी हैसियतसे हैं। अतः उनके निर्वाचन द्वारा जैनोंके इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंकी सफलता मानकर सन्तोष कर लेना एक भूल है।

जैनियोंके अपने सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्वत्वाधिकारोंके संरक्षणके हित किये गये इन नगण्य प्रयत्नोंमेंसे भी कतिपय अतिशय उग्रगामी जैन सज्जनोंको ही बगावत और फूट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

डालनेवाली घृणित जातिकी साम्प्रदायिकता तथा व्यक्तिगत स्वार्थसाधनकी भावनाकी गंध आती प्रतीत होती है। हमारी समझमें तो यह उनका एक भ्रम ही है, इससे ऐसी कोई बात फलित नहीं होती । प्रथम तो, इन प्रयत्नों और इनके बलको देखते हुए इनकी सफलता और महत्व भी बहुत कुछ सन्दिग्ध ही है, और यदि इनमें कुछ सफलता मिलती भी है और उसका जैनी कुछ यथोचित लाभ भी उठा पाते हैं तो उससे सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय महासभा के हितों और उद्देश्योंका विरोधी होनेकी तो कोई संभावना ही नहीं है । हाँ, उनके स्वाभिमान एवं आत्मविश्वासमें अवश्य ही वृद्धि होजायगी और वे भी अपने आपको नव-निर्मित सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक भारतीय राष्ट्रके स्वतंत्र सम्मानित नागरिक एवं अङ्ग अनुभव करेंगे ।

सच्चे साधु और सामान्य भिक्षुक—कुछ प्रान्तीय सरकारों द्वारा पास किये गये भिक्षावृत्तिनिरोधक कानूनोंके संबंधमें एक जैन डेपुटेशनसे भेंट करते हुए, विधानपरिषदके सदस्य श्रीयुत् रघुनाथ वि० धुलेकर एम० एल० ए० ने आश्वासन दिया कि—'जैनसाधु अथवा सनातनी सन्यासी कोई भी सामान्य भिक्षुक नहीं है । मुझे यह विश्वास है कि प्रान्तीय सरकारें ऐसे साधुओं और सन्यासियोंको जो हिन्दू समाजका एक आवश्यक भाग है, बाधा पहुंचाने वाला कानून न तो बनावेंगी और न बना सकती हैं । इन साधुओं की परम्परा कई सहस्र वर्षसे चली आती है, जिनके अनुसार हिन्दू परिवारोंसे भिक्षा मांगना भिक्षावृत्ति नहीं, वरन् धार्मिक अधिकार एवं कर्तव्य है । मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि कांग्रेस सरकार हिन्दू संस्कृतिको सामान्य रूपसे तथा जैन संस्कृतिको विशेष रूपसे नष्ट करनेवाली नहीं है, वह इन कानूनोंको लागू करनेमें इस बातकी अवश्य व्यवस्था करेगी कि साधारण भिखमंगों तथा सच्चे साधुओं एवं सन्यासियोंमें विभेद किया जा सके । आप प्रान्तीय असेम्बली तथा विधान परिषद्में इस विषयमें मेरे समर्थनका विश्वास रक्खें ।'

सरदार पटेलका उद्बोधन—गत २६ दिसम्बरको अहमदाबादमें एक जैन विद्यालयका उद्घाटन करते हुए सरदार बल्लभभाई पटेलने कहा था कि—"जैनोंकी परीक्षा का आधार मनुष्यका आचरण है । जैन या जितेन्द्रियको अपनी सफलताके संबंधमें विचार करते समय सोचना चाहिये कि उसने संयमधर्मका कितना पालन किया ? यह आत्मानुभवकी चीज़ है; वाह्याडंबर तो बहुत दीखता है, तिलक छापे करना, मन्दिरोंमें जाना, जात्रायें करना आदि सब धर्मकी मर्यादा कहलाती हैं, ये सब धर्मको समझनेके लिये हैं, लेकिन आत्मानुभव या संयमको छोड़कर यदि केवल वाह्य आडंबरोंको ही जो धर्म मानता है वह केवल नामका ही जैन है, वह सच्चा जैन नहीं कहला सकता । 'अहिंसा परमोधर्मः' यह तो जैनोंका सर्वोपरि सिद्धान्त है; इसका जिसे अच्छी तरह ज्ञान हो वह भी दुकानपर कार्य करते समय आवाज़ सुने कि 'हुल्लड़ हुआ गुण्डे आरहे हैं' और सुनते ही माला फेंक फांक कर भागने लगे, उसे जैन नहीं कह सकते । उसने तो अपने पासके परिग्रहको सत्यरूप समझा और भयकी वजहसे भागा, इसको ही भीरुता कहते हैं । किसी भी धर्ममें कायरता नहीं हो सकती है, जैन धर्ममें तो हरगिज़ नहीं । जैनी कोई भी हिंसा भले ही न करे, परन्तु उसमें स्वयंको होमदेनेकी शक्ति तो होनी चाहिये । इसके बिना सिद्धान्तकी क्या कीमत ? जैनमें तपश्चर्या और आत्मशुद्धिकी वह शक्ती होनी चाहिये कि जिसे देखकर गुण्डेके हाथमेंसे हथियार नीचे गिरजाय । आज तो महात्माजी अहिंसा धर्मका सेवन कर रहे हैं और हिंदके समक्ष सत्य पदार्थका पाठ रख रहे हैं । अपनी दृष्टि दूषित हो जीभको झूठ बोलनेकी आदत हो, हृदय मलिन विकारोंसे परिपूर्ण हो, तो बाह्य आचरण भाररूप हो जायगा, बाह्य शुद्धिके साथ साथ अन्तरङ्ग शुद्धि भी करनी चाहिये ।'

नेताजी दिवस—२३ जनवरीको भारतवर्षमें सर्वत्र तथा लन्दन आदि विदेशोंमें भी नेताजी श्री सुभाषचन्द्र-बोसका ४१ वाँ जन्मदिवस सोत्साह मनाया गया । स्वयं गांधीजीने भी नेताजीके प्रति अपनी श्रद्धांजली अर्पितकी । किन्तु अभीतक यह प्रश्न एक विकट पहेली ही बना हुआ है कि सुभाष बाबू जीवित हैं अथवा नहीं ?

स्वतन्त्रता दिवस—२६ जनवरीको समस्त भारतमें स्वाधीनता दिवस मनाया गया जो सन् १९३० से निरन्तर प्रतिवर्ष भारतीयोंको अपनी स्वतन्त्रता प्राप्तिके ध्येयकी याद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिलाने तथा तत्संबंधित प्रतिज्ञाको दुहरवानेके लिये आता रहा है। इस प्रतिज्ञापत्रका मूलमंत्र है स्व० लोकमान्य तिलक का प्रसिद्ध सूत्र 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।' और इसका सार है कि चूँकि अंग्रेजी राज्य-द्वारा भारतका आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और अध्यात्मिक दृष्टिसे विनाश हुआ है, अतः शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों द्वारा अंग्रेज़ोंसे संबंध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य और देशकी स्वाधीनता प्राप्त करना तथा लक्ष्य प्राप्ति तक उसके हित अहिंसक रीतिसे लड़ाई जारी रखना, और उसके अन्तर्गत, खादी, साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, जातिएवं धर्मगत भेदभाव बिना देशवासियोंमें प्रत्येक अवसरपर सद्भावनाका प्रचार करना, उपेक्षितों, अज्ञानियों, दीन दरिद्रियों तथा पिछड़े हुए देशवासियोंका उद्धार करना तथा देशव्यापी ग्रामसुधार, घरेलु उद्योग धंधोंको प्रोत्साहन देना, देशके लिये त्याग एवं कष्ट सहने तथा बलिदान होने वाले देशभक्तोंके प्रति श्रद्धांजली भेंट करते हुए कांग्रेसके सिद्धांतों और नीतियोंका अनुशासनके साथ पालन करने और उसके आह्वानपर आज़ादीकी लड़ाई चलानेके लिये तैयार रहनेकी प्रतिज्ञा करना।

पं० अजितप्रसादजी एडवोकेटके विचार—

जैनगज़ट भाग ४३ नं० ११-१२ पृ० १४३ पर उसके विद्वान सम्पादक पं० अजितप्रसादजी एडवोकेट, लखनऊ प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थकी समालोचना करते हुए लिखते हैं— "जैन समाजमें कोडियों पंडित हैं, किन्तु उनमेंसे केवल दो ही ऐसे हैं जिनका उल्लेख हम जैन साहित्यिक अनुसंधानके क्षेत्रमें निस्वार्थ कार्यकर्ताओंके रूपमे कर सकते हैं। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, जिनके सम्मानका दो वर्ष पूर्व कलकत्तेमें आयोजन किया गया था और जिन्होंने सरसावा, जि० सहारनपुर, में वीर सेवा मन्दिरकी स्थापना करनेमें अपना सर्वस्व बलिदान करदिया है, मात्र एकही ऐसे विद्वान हैं जिनने प्रेमीजीकी भाँति साहस, निर्भीकता एवं लगन पूर्वक जैन धार्मिक साहित्यरूपी महासागरकी गहराइयोंमें डुबकी लगाकर वहाँसे अमूल्य आबदार मोती निकाल संसार को प्रदान किये हैं और, जबकि दूसरोंने केवल किनारेकी सिवार मेंसे सीपियें ही एकत्रित की हैं और उन्हें भी विक्रय करके स्वार्थ साधन किया है, अपने नामोंके आगे लम्बी २ उच्च-बोला उपाधियें लगाली हैं, और विभिन्न संस्थाओंकी सम्पत्तिपर अपना आधिपत्य जमा लिया है।

क्या हम आशा करें कि जैनी लोग अपने दानके प्रवाहको सरसावेके 'वीरसेवामंदिर' तथा बम्बईमें प्रेमीजी द्वारा सम्पादित संचालित 'मानिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला' की ओर प्रवाहित करदेंगे।

आचार्य जुगलकिशोरजी तथा प्रेमीजी दोनोंको ही एक प्रेसकी आवश्यकता है जिसपर उनका पूरापूरा निर्बाध अधिकार हो और जो सर्वोत्तम एवं उन्नत छापेकी तथा लीनोटाइपकी मेशिनोंसे तथा सुयोग्य कुशल कर्मचारियों एवं अन्य साधन-सामग्रीसे युक्त हो। ऐसे प्रेसके लिये कई लाख रुपयेकी आवश्यकता है; और ईमानदार निस्पृह कार्यकर्त्ता तो बिना कठिनाईके मिल जायेंगे।"

भारतजैन महामंडल—इसका २७ वाँ वार्षिक अधिवेशन आगामी मार्च सन् ४७ में बम्बई प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाके अध्यक्ष श्री कुन्दनमल सोभागचन्द्र फिरोदिया एडवोकेट अहमदनगरके सभापतित्वमें, दक्षिण हैदराबादमें होना निश्चित हुआ है।

वीरसेवामंदिरमें हाकिमइलाका—ता० २३-१-४७ को ठाकुर मुन्शीसिंहजी मेजिस्ट्रेट, हाकिमइलाका, वीरसेवामन्दिरमें पधारे। आपने मन्दिरके कार्यालय, पुस्तकालय तथा भवनका निरीक्षण किया, 'अनेकान्त पत्र' को जनताके लिये हितप्रद और मन्दिरकी लाइब्रेरीको अनुपम बताया; अधिष्ठाताजी तथा अन्य कार्यकर्त्ताओंके कार्यकी सराहनाकी, जनताका और विशेषकर जैन जनताका ध्यान आश्रमकी सहायता करनेकी ओर आकर्षित किया।

स्वामी माधवानन्दजीका संदेश—'भारतीय संस्कृतिको गँवाकर स्वराज्य प्राप्त करना हेय है। भारतीय संस्कृतिका संरक्षण करते हुए स्वराज्य प्राप्त करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। भारतीय धर्म ही सच्ची शान्तिका सच्चा उपाय है। भारतीय संस्कृति दैवी संपदाका प्रतीक है। यूरोप आदि देशोंकी संस्कृति आसुरी संपदाका प्रतीक है। जिस स्वराज्यभवनकी नींव अभारतीय संस्कृतिपर अवलम्बित हो, उसका ध्वस्त होजाना निश्चित है।' J. P.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य-परिचय और समालोचन

प्रेमी अभिनन्द ग्रन्थ—श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी की चिरकालीन एवं महत्वपूर्ण साहित्यिक सेवाओंके उपलक्षमें उनका अभिनन्दन करनेके लिये, ता० २० अक्तूबरको नागपुर विश्वविद्यालयमें होने वाले अ० भा० प्राच्यविद्यासम्मेलनके अवसर पर एक उपयुक्त समारोह किया गया था, और उसमें प्रसिद्ध नेता एवं साहित्यसेवी काका कालेलकरके हाथों प्रेमी जीको यह अमूल्य ग्रंथ समर्पित किया गया था। ग्रंथ समर्पण तथा अभिनन्दन समारोहका आयोजन प्रेमी अभिनन्दन समितिकी ओरसे हुआ था, जिसके प्रेरक श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी, अध्यक्ष डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, तथा मन्त्री श्री यशपाल जैन बी० ए० एल-एल० बी० थे।

ग्रंथके सम्पादक मंडलमें जैन अजैन, स्त्री-पुरुष, चोटीके ४६ साहित्यसेवी विद्वान थे और उक्त मंडलके अध्यक्ष भी डा० अग्रवालजी ही थे। ग्रंथको १८ उपयुक्त विभागोंमें विभक्त करनेकी योजना थी और इन विभागोंकी अलग अलग कुशल सम्पादन समितियाँ संयोजित करदी गई थीं। किन्तु बादमें उक्त १८ विभागोंको सकुचित करके ६ ही विभाग रक्खे गये जो इस प्रकार हैं—

अभिनन्दन, भाषाविज्ञान और हिन्दीसाहित्य, भारतीय संस्कृति पुरातत्त्व और इतिहास, जैनदर्शन, संस्कृत प्राकृत और जैनसाहित्य, मराठी और गुजराती साहित्य, बुन्देलखण्ड, समाजसेवा और नारीजगत तथा विविध। इन विभागोंके अन्तर्गत १२७ विभिन्न अधिकृत विद्वान लेखकों द्वारा प्रणीत १३३ महत्वपूर्ण लेख संगृहीत हैं। प्रायः सब ही लेख मौलिक, गवेषणापूर्ण एवं स्थायी मूल्य के हैं। इनमेंसे ४० लेख जैनदर्शन साहित्य इतिहास समाज आदिके सम्बन्धमें हैं। लेखोंके सम्पादनमें सम्पादकाध्यक्ष तथा अन्य संपादक महोदयोंने भी यथेष्ट परिश्रम किया है। लेखोंके अतिरिक्त ३४ विविध चित्रोंसे भी ग्रन्थ सुसज्जित किया गया है। इन चित्रोंमेंसे २८ फोटो चित्र हैं और शेष ६ कलाकार श्री सुधीर खास्तगीर द्वारा निर्मित काल्पनिक चित्र हैं जो यद्यपि कलापूर्ण हैं तथापि विशेष आकर्षक नहीं प्रतीत होते, फोटोचित्रोंमें भी, व्यक्तिगत चित्रोंको छोड़कर अन्य चित्रोंमें जैनकला एवं पुरातत्त्व संबंधी चित्रोंका प्रायः अभाव है जो खटकता है। लेखोंमें भी जैनसाहित्य इतिहास कला आदिपर अपेक्षाकृत बहुत कम लेख हैं और जो हैं उनमें भी इन विषयोंपर पर्याप्त एवं समुचित प्रकाश नहीं पड़ पाया। ग्रंथकी छपाई आदि तैयारी ला जरनल प्रेस, इलाहाबाद, में हुई है। अतएव उत्तम तथा निर्दोष है; हाँ प्रूफ आदिकी कुछ अशुद्धियें फिर भी रह गई हैं। कुछ लेखोंमें अनावश्यक काट छाँट भी की गई प्रतीत होती है जो उन लेखोंके लेखकोंकी स्वीकृतिके बिना कुछ उचित नहीं जान पड़ती। इसपर भी ग्रंथ सबप्रकार सुन्दर, महत्वपूर्ण, पठनीय एवं संग्रहणीय है, और इसका मूल्य भी मात्र दश रुपये है जो संस्करणकी सुन्दरता विपुलता तथा ठोस सामग्रीको देखते हुए अत्यल्प है।

अनित्य-भावना—वीरसेवामन्दिरकी प्रकीर्णक पुस्तकमालाके अन्तर्गत प्रकाशित यह पुस्तक श्री पद्मनन्द्याचार्य-विरचित संस्कृत 'अनित्यपञ्चाशत' का पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत ललित हिन्दी पद्यानुवाद, भावार्थ, उपयोगी प्रस्तावना एवं पद्यानुक्रमणिका सहित तथा मुख्तार साहब द्वारा ही सम्पादित, संशोधित परिवर्द्धित तृतीय संस्करण है। पुस्तक बहुत लोकोपयोगी, उपदेशप्रद एवं पठनीय है और जनसाधारणमें वितरण करने योग्य है। छपाई सफाई सन्तोषजनक है। मू० चार आने है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनसन्देशका राष्ट्रीय अंक—जिसकी जनता चिरकालसे प्रतीक्षा कर रही थी, आखिर जनवरीके अन्तिम सप्ताहमें प्रकट होगया। अंक पुस्तकाकार २०×३० अठपेजी साइजके १०० पृष्ठोंमें राष्ट्रीयता विषयक ३ महत्वपूर्ण लेख, ५ कविताएँ ४-५ राष्ट्रीय नेताओंके सन्देश तथा सैकड़ों जैन-राष्ट्रीयकार्यकर्त्ताओं और उनकी देशसेवाओंके संक्षिप्त परिचय सहित बहुतसी समयोपयोगी पठनीय एवं ज्ञातव्य सामग्रीसे युक्त है। कितने ही जैनराष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओंके ब्लाक चित्रोंसे भी अलंकृत है। सम्पादक महोदयका प्रयत्न सराहनीय है। किन्तु जैसाकि लगभग एक वर्ष पहिलेसे जैनसन्देश साप्ताहिकमें बार बार प्रकाशित सूचनाओं, और विज्ञापित योजनाओं के आधारपर इस अंकसे आशा की जाती थी वैसा यह नहीं बनपाया। पूर्वसूचित १७ विषयविभागोंमेंसे मुश्किलसे ४-५ विषयोंके संबंधकी सामग्री ही इसमें संकलित हो पाई है। अल्पसंख्यक समस्या और जैन, भारतके भावीविधानमें जैनसमाजका स्थान, अहिंसा और राजनीति, धर्म और राष्ट्रीयता, क्या एकतन्त्र जैनधर्म सम्मत है, जैनसंस्कृतिकी दृष्टिसे भारतकी अखंडता, जैनोंकी स्वतन्त्र शिक्षाप्रणाली हिन्दी और हिन्दुस्तानी क्षेत्रमें जैनोंकी सेवाएँ, इत्यादि ऐसे विषय थे जिनपर लिखे गये प्रमाणित लेखोंका संकलन इस अंकमें अवश्य ही होना चाहिये था। अंकके संबंधमें जिन आशाओंको लेकर माननीय बा० सम्पूर्णानन्दजीने अपनी यह सम्मति दी है कि वह अंक 'इस दृष्टिसे बहुत सामयिक है कि उसमें उन कई महत्वपूर्ण समस्याओंपर विचार होगा जो इस समय राष्ट्रके विचारशील व्यक्तियोंके सामने हैं,' उन आशाओंकी पूर्ति यह नहीं कर सका है। उसमें जैनराष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं द्वारा लिखे गये अपने संस्मरणों, अनुभवों तथा सामयिक राजनीतिक समस्याओंपर अपने विचार उक्त समस्याओं एवं वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थितियोंका जैनसमाजके साथ संबंध या उसपर पड़ने वाले प्रभावके दिग्दर्शनका भी अभाव है जो खटकता है। राष्ट्रीय यज्ञमें योग देने वाले और स्वदेश स्वातन्त्र्यकी बलिवेदीपर अपने आपको न्योछावर करदेने वाले सब ही जैन महानुभावोंका परिचय भी नहीं आ पाया, मुश्किलसे ऐसे आधे व्यक्तियोंका ही उल्लेख इसमें होगा। जिन व्यक्तियोंका परिचय दिया गया है उनकी एक संक्षिप्त परिचयात्मक नामानुक्रमणिका भी साथमें लगी होती तो अच्छा था। क्योंकि पं० पन्तके शब्दोंमें 'यह कहनेमें तनिक भी संदेह नहीं कि जैनसमाजने स्वतन्त्रता आन्दोलनमें बहुत बड़ा भाग लिया है और कितने ही कार्यकर्त्ताओंका राजनैतिक क्षेत्रमें प्रमुख स्थान है'।

फिर भी ऐसे अंकोंकी भारी आवश्यकता थी और थोड़े अंशमें ही सही इससे उसकी पूर्ति अवश्य होती है, अतः इस दृष्टिसे इसका प्रकाशन समयोपयुक्त एवं आवश्यक ही है। पाठकोंको इसमें पर्याप्त उपयोगी जानकारी मिलेगी।

धर्म क्या है—कुँवर श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी द्वारा लिखित तथा श्र मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मदनगञ्ज (किशनगढ़) द्वारा प्रकाशित यह ५७ पृष्ठका एक उपयोगी ट्रैक्ट है। साथमें श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री न्यायतीर्थकी संक्षिप्त भूमिका है तथा पूज्यवर्णीजी एवं न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजीके अभिमत भी हैं।

इस पुस्तिकामें लेखकने 'धर्म क्या है' इस विषयपर सरल लोकोपयोगी भाषामें जैनदृष्टिसे आंशिक प्रकाश डाला है। वस्तुतः इसमें स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत धर्मके सुप्रसिद्ध स्वरूपश्लोक—

'देशयामि समीचीनं, धर्मकर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान यः धरत्युत्तमे सुखे ॥

(र० क० श्रावकाचार)

की स्वतन्त्र विस्तृत व्याख्या की गई है। पुस्तक पठनीय है। छपाई सफाई साधारण है, प्रूफ आदिकी गलतियें हैं ही। मूल्य मात्र मनन है। वितरण करनेके लिये मंगाने वालोंको २५) सैंकड़ों मूल्यपर प्रकाशकोंसे मिल सकती है।

ज्योतिप्रसाद जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरण (४-५) में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—

२५०) श्रीमती जयवन्ती देवी, नानौता जि० सहारनपुर (श्री दादीजीके स्वर्गवाससे पहले निकाले हुए १००१) के दानमेंसे ग्रन्थप्रकाशनार्थ)।

१५०) सकल दिगम्बर जैन पंचान कलकत्ता (दशलक्षण पर्व के उपलक्षमें) मार्फत सेठ बलदेवदासजी सरावगी, कलकत्ता।

८०) श्रीमती विशल्यादेवी धर्मपत्नी साहू प्रकाशचन्दजी जैन, नजीबाबाद (लायब्रेरीमें ग्रन्थ मंगानेके लिये) मार्फत बा० नरेन्द्रप्रसादजी सहारनपुर।

२१) जैनशास्त्रसभा नयामन्दिर देहली। मार्फत ला० जुगलकिशोरजी कागजी, देहली।

१५) ला० धवलकिरत मेहरचन्दजी जैन सहारनपुर (चि० नरेशचन्द्रके विवाहकी खुशी में।

१०) बा० पीताम्बरकिशोरजी जैन एजीक्यूटिव इंजीनियर, रुड़की जि० सहारनपुर।

१०) ला० पारसदासजी जैन स्यालकोट निवासी (पुत्री कान्तादेवीके विवाहकी खुशीमें) मार्फत पं० रूपचन्द जी जैन गार्गीय, पानीपत।

३॥) ला० विमलप्रसादजी जैन, सदर बाजार, देहली।

५३६॥) अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको सहायता

गत चौथी-पाँचवीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

११) ला० देवीदास शंकरदासजी जैन, कलरमर्चेन्ट चूड़ी सराय मुलतान (सेठ सुखानन्दजीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)।

५) मंत्री दि० जैन पंचायत कमेटी, गया।

५) ला० व्रजलालजी जैन सौदागर संतर जि० मुरार (पिता जी के स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)।

---

२१) व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरमें पं० वंशीधरजी न्यायालंकार

गत अक्तूबर मासमें विद्वद्वर्य श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर, अपने साथ श्री पं० मनोहरलालजी वर्णी, श्री चम्पालालजी सेठी तथा बा० नेमीचन्दजी वकील सहारनपुरको लेकर वीरसेवामन्दिर सरसावामें पधारे। आपने मन्दिरके पुस्तकालय और कार्यालयका निरीक्षण किया श्रद्धेय मुख्तार साहिब तथा मन्दिरके अन्य विद्वानोंके साथ तात्त्विक एवं साहित्यिक विषयोंपर चर्चाकी और मन्दिरमें जो शोध खोज तथा ग्रन्थ-निर्माण सम्बन्धी कार्य चल रहे हैं उन्हें देखा। आप यहाँकी कार्यपद्धति और उसके महत्त्वसे बहुत प्रभावित हुए तथा समय निकालकर कुछ दिनोंके लिये वीरसेवामन्दिरमें आनेका वचन दिया। साथ ही संस्थाकी निरीक्षणबुकमें अपनी शुभ सम्मति निम्न प्रकारसे अंकित की—

"आज ता० १६-१०-४६ को वीरसेवामन्दिरमें आया, श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजीके दर्शनसे बहुत ही प्रसन्नता हुई। मुख्तार साहबने इस युगमें जिस पद्धतिसे जैनदर्शन जैनसाहित्य, जैनइतिहासके पर्यवेक्षण, अन्वेषण एवं मीमांसा करते हुए कितनी गम्भीरताके साथ विवेचन करते हुए विविध ग्रन्थोंका प्रकाश किया है, वह भूरिभूरि प्रशंसाके योग्य है। मुझे तो वर्तमान दि० जैन समाजमें एक मात्र अद्वितीय विद्वद्रत्न प्रतीत होते हैं। आपकी जैनवाङ्मयको सिलसिलेवार नवीन रूपसे लोगोंके सामने प्रकाशित करनेकी बहुत बड़ी लगन है। दि० जैन समाजके धनाढ्य पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे पण्डितजीके मनोरथोंको पूर्ण करनेमें मुक्त-हस्त हो भरपूर सहायता दें। यदि वे ऐसा करेंगे तो जैनाचार्योंके बहुत बड़े उपकारोंसे उपकृत हुए कृतज्ञ कहे जा सकेंगे। विशेष क्या लिखूँ वीरसेवामन्दिरमें वास्तविक और ठोस कार्य किया जा रहा है। इसके लिये पं० दरबारी-लालजी एवं पं० परमानन्दजी शास्त्रीका सहयोग सराहनीय है।"

— J. P.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. A-736

वीरसेवामन्दिरके प्रकाशन

१ समाधितन्त्र—संस्कृत और हिन्दी टीका-सहित। ०)

२ बनारसी-नाममाला—(पद्यात्मक, हिन्दी-शब्दकोश, शब्दानुक्रम-साहित)। ... ... ।)

३ अनित्य-भावना—हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। ।)

४ उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा—ऐतिहासिक प्रस्तावनासहित।)

५ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—अनुवाद तथा व्याख्या-सहित। ।)

६ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणोंका महत्वका संग्रह, हिन्दी-अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

७ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—हिन्दी-अनुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित। ... ... १॥)

८ विवाह-समुद्देश्य—विवाहका मार्मिक और तात्त्विक विवेचन, उसके अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई कठिन और जटिल समस्याओंको सुलझाता हुआ। ॥)

९ न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)—संस्कृत टिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

१० पुरातन-जैनवाक्य-सूचि (जैनप्राकृत-पद्यानुक्रमणी)—अनेक उपयोगी परिशिष्टोंके साथ ६३ मूलग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके परिचयको लिये हुए विस्तृत प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द। १५)

११ स्वयंभूस्तोत्र—समन्तभद्र-भारतीका प्रथम ग्रन्थ, विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और महत्वकी प्रस्तावना-सहित। (प्रेसमें) १)

१२ जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह—संस्कृत और प्राकृतके कोई १५० अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण-सहित अपूर्व संग्रह, अनेक उपयोगी परिशिष्टों तथा विस्तृत प्रस्तावनासे युक्त। (प्रेसमें)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिरके लिये श्यामसुन्दरलाल द्वारा श्रीवास्तवप्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org